THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_180684
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82.08 / U65K Accession No. H 3001

Author उपाध्याय भगवतशरण

Title कुछ फीचर कुछ एकांकी 1959

This book should be returned on or before the date last marked below.

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—१०१

कुछ फ़ीचर कुछ एकाङ्की

भगवतशरण उपाध्याय

भा र ती य ज्ञा न पी ठ • का शी

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टेण्ड.) हैदराबाद द.

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम सम्करण
१९५९
मूल्य साढ़े तीन रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

(कन्या) चित्रा और (जामाता) रामको

उनके विवाह (८ जून १९५४) की

पाँचवीं वर्षगाँठपर——

वक्तव्य

प्रस्तुत संग्रह सन् ५४-५६मे लिखे मेरे कुछ फीचरों और एकांकियोंका है। इनमेसे अधिकतर इलाहाबाद-लखनऊ आकाशवाणीमे प्रसारित हो चुके है। 'महाभिनिष्क्रमण' तो उत्तर-दक्षिणकी सभी भारतीय भाषाओमे अनूदित होकर आकाशवाणीके तेरह केन्द्रोमे बुद्धकी २५००वी जयन्तीपर प्रसारित हुआ था। आकाशवाणीके प्रति कृतज्ञ, मै अब इन्हे एकत्र प्रकाशित कर रहा हूं।

सारे फीचर और एकांकी ऐतिहासिक है। कुछके कथानक प्राचीन भारतसे सम्बन्धित है, कुछके मध्यकालीन भारतसे। एक—जोहान वोल्फ़गाग गेटे—मे प्रसिद्ध जर्मन कविका आंशिक जीवन प्रतिबिम्बित है! भारतीय प्रेरणाका प्रयोग उसमे स्पष्ट है। 'गणतन्त्रगाथा'के आठवें दृश्यका श्लोक कालविरुद्ध [कुमारगुप्त प्रथमके कालसे, यद्यपि वह कुमारगुप्त द्वितीयके कालका है, वत्सभट्टीका बनाया] होते हुए भी प्रभावके लिए दिया गया है। इसी प्रकार कई वर्ष पूर्व मृत शिलरको भी नेपोलियन द्वारा वाइमारपर आक्रमणका समकालीन रखा गया है।

फ़ीचरोंका पूर्वोत्तर क्रम युगपरक नहीं है। आकस्मिक विविधता रुचिकर होती है, इसीसे इन्हे यथास्थान रखा गया है। आशा करता हूँ, पाठकों और दर्शकोंका इनसे कुछ मनोरंजन होगा।

काशी,
१-१-१९५९

—भगवतशरण उपाध्याय

• विषय-क्रम •

१.	सीकरीकी दीवारें	९
२.	गणतन्त्रगाथा	३५
३.	नारी	५७
४.	शाही मजूर	७९
५.	ताहि बोइ तू फूल	८९
६.	महाभिनिष्क्रमण	१११
७.	रूपमती और बाज़बहादुर	१२७
८.	क्रौंच किसका ?	१४९
९.	जोहान वोल्फ़गांग गेटे	१६१
१०.	नई दिल्लीमें तथागत	१९३
११.	रानी दिद्दा	२०९
१२.	गोपा	२३५

सीकरीकी दीवारें

पहला दृश्य

[ग्रीष्मकी सन्ध्याकी हल्की लालिमा। मुसम्मनबुर्जकी छायामें महले-ख़ासका शीशमहल। उसके नीचे सहनमें फैला अंगूरी बाग़, सीकरसिक्त अंगूरकी बेलें, उनके गुच्छे। मदभरी साँझमें अकुलाया, घटाकी भाँति जहाँनाराके आकाशको घेरे उसका अलसाया अल्हड़ मदिर यौवन। तपी-सी बैठी जहाँनारा, हल्के-हल्के चँवर झलती बाँदियाँ, सामने सकीना।]

सकीना—फिर, शाहज़ादी ?

जहाँनारा—फिर, सकीना, मैंने चिलमन उठा दिया। पर्दा हट जानेसे साँझकी धूप मेरे मुँहपर पड़ी। राजा ठिठका। उसका घोड़ा, जैसे अलफ़ ले रहा हो, हल्केसे आगेको उठा। पर, सकीना, वह अलफ़ न था।

सकीना—नहीं, शाहज़ादी, वह अलफ़ न था।

जहाँनारा—अलफ़ न था वह, सकीना। राजाने घोड़ेकी चाल जान-बूझकर सम्हाली थी। वहीं अनेक बार उसने मुझे खड़ी-बैठी देखा होगा, मेरा अन्दाज़ है।

सकीना—सही, शाहज़ादी, दीवाने-आमसे गुज़रनेवाले राजा उधरसे ही जाते हैं, मीनारे-अव्वलको दस्तक देते।

जहाँनारा—घोड़ा रुका, सकीना। पीछेके सवार भी कुछ रुके, सहमे-सहमे। हवा जैसे थम गई थी, साँझ अरमानोंसे बोझिल थी। [**लम्बी साँस लेती है**] आँखें चार हुई सकीना। डूबते सूरजकी सुनहरी किरनें अब भी मेरे मुँहपर पड़ रही थीं। पर मैं उसकी गरमीका गुमान भी न कर सकी। मेरे सामने ठिठका हुआ वह

घुड़सवार था, पीछे उसके बाँके जवान थे। मैंने देखा, सकीना, उसका सीना पहले जैसे धीरे-धीरे तना फिर जैसे बैठ गया। एक बार फिर उसने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें मुझपर डालीं और वह आगे बढ़ा। उसके हल्के वासन्ती साफ़ेकी कलँगी छिप गई, 'बफ़्त हवा' की जालीके पीछे।

सकीना—चला गया फिर राजा ?

जहाँनारा—रुकना ख़तरेसे खाली न था, सकीना। राजा चला गया, लहराती कलँगीके तार चमकाता, अपने बाँके जवानोंको लिए। जवान, जो उस बहादुर क़ौमके नाज़ हैं, हमारी सल्तनतके पाये। [**आह भरकर**] लहर उठा दी उसने, सकीना, उस राजाने। तातार अव्वल थोड़ी दूरपर खड़ा था, परकोटेके नीचे देखता। मैंने पूछा—'कौन थे घुड़सवार, ख़ान ?'—बोला, 'बूँदीका राजकुमार छत्रसाल।' [**साँस खींचकर**] क्या सूरत थी, सकीना, क्या रूप था, क्या तेज, क्या शान ? मिस्रके मामलुक देखे हैं, लड़की, फ़रगनाके बेग, दमिश्कके तुर्क, ग़ोरके पठान, पर रूपका वह राज़ तो कहीं न देखा, जैसे ख़ूबसूरतीको साँचेमें खड़ा ढाल दिया हो। वह तना सीना, वह भरे बाज़ू, वह लम्बी झुकी नाक, बड़ी-बड़ी बेख़ौफ़ आँखें—क्या कहाँ तक बताऊँ, सकीना, वह बेदाग़ नक़्शा ! तपे सोनेका वह रंग आँखोंसे उतरता ही नहीं।

सकीना—सही, शाहज़ादी, बूँदीका राजा तो ग़ज़बका ख़ूबसूरत है। अच्छा, फिर उसे कब देखा आपने ?

जहाँनारा—फिर उस रोज़ जब दीवाने-आमके सहनमें उड़िया हाथीने भाईजान दारापर हमला किया था। तू तो मेरे पास ही थी, सकीना ! [**कुछ सोचकर**] नहीं, तू नहीं थीं, जुलेख़ा थी मेरे साथ। हाँ, तो हाथी भड़का, दाराके घोड़ेकी ओर बढ़ा। भीड़ छँटती गई। राजा और अमीर तितर-बितर हो गये। पर बूँदीके उस बाँकेने

तलवार खींच ली। हाथी बढ़ा। साँसें थम गईं। पल भरमें जाने क्या हो जाता! दरबारमें चीख़ पुकार मची थी। बादशाह तख़्तसे उतर चुके थे, मेरा एक पैर पर्देके बाहर हो चुका था कि उड़िया हाथीका रह-रह कर गुंजलक भरता सूँड़ तलवारके एक झटकेसे केलेके खम्भ-सा कट गया। तभी पसीनेसे लथपथ कुँवरको देखा था, सकीना, दारा और कुँवरके वालिद राजाने जब एक साथ उसे सीनेसे लगा लिया था, जब दोनोंसे मूँठ भर ऊपर उसका सिर काले घुँघराले बालोंसे लहरा रहा था, जब उसके चौड़े ललाटपर धूपने पसीनेके मोती बिखेर दिये थे, उसकी पगड़ीके फेंटे बायें कन्धेसे उलझ गये थे।

सकीना—काश कि मैं भी वह नज़ारा अपनी आँखों देख पाती, शाहज़ादी!

जहाँनारा—फिर आज देखा, लड़की। आज बापने उसे गद्दी दी। बूँदीका राज उसके बूढ़े बापने उसे आज सौंप दिया। देख तो, सकीना, इस क़ौममें ताजके लिए जंग नहीं होते। जिन्दा बाप अपने आप अपनी गद्दी बेटेको सौंप देता है, दूसरे बेटे उसे कुरान शरीफ़के क़लामकी तरह मंजूर करते है।

सकीना—नहीं, शाहज़ादी, उस क़ौममें इस तरहके झगड़े नहीं होते। कम सुने गये हैं। अच्छा, फिर?

जहाँनारा—फिर बादशाह आज़मने उसे सरोपा बख़्शा, ख़िलअत दी। मैं पर्देके पीछे थी, तख़्तके पीछे, बायें बाज़ू, जब कुँअर नज़रका थाल लिये बादशाहके सामने झुका। मेरे पाससे ही वह गुज़रा था, सकीना। मेरे इतना पास आ गया था वह कि लगा, अगर हाथ बढ़ा दूँ तो उसे छू लूँगी। इतने पाससे मैंने उसे कभी न देखा था। तभी उसके जिस्मका जादू मुझे बेहाल कर चला। मैं उठ पड़ी। रोशनाराने मुझे उठते देखा। माथेपर छलकी पसीनेकी बूँदें भी शायद उसने देखीं। पर मैं रुकी नहीं, रुक न सकी, सकीना।

[**ज़रा रुककर**] अच्छा, अब तू चली जा, सकीना। वक़्त हो गया है। दरबारे-ख़ास उठ गया होगा। राजा उधरसे अकेला निकलेगा और जब तक दरबारे-ख़ासके बाज़ूसे घूम दरबारे-आमके सहनमें न निकल जाय, वह अकेला ही होगा। फिर मौक़ा न मिलेगा। सब याद है न ?

सकीना—सब याद है शाहज़ादी, चली।

[**सकीनाका प्रस्थान**]

जहाँनारा—देख, नरगिस, देखती है उन बेलोंको ? जब फ़व्वारोंकी बूँदें हरी पत्तियोंपर पड़ती हैं तब उनके सिरे झुक जाते हैं, जैसे उन बूँदोंको भी वे न उठा पाती हों। बूँदें अंगूरके गुच्छोंसे होकर नीचे गिर जाती हैं जैसे सुन्दर अण्डाकार मुँहसे उतरते ठुड्डीसे टपकते आँसूके कन। और पत्तियोंपर ये बूँदें ठीक शबनम-सी लगती हैं।

नरगिस—हाँ, शाहज़ादी, इसपर शामको ही शबनम बिखर पड़ती है। नये आलमका बोझ भारी होता है, जैसे नई मुहब्बतका।

जहाँनारा—'नये आलमका बोझ भारी होता है, जैसे नई मुहब्बतका'—सही, नरगिस, उस बोझका उठाना कुछ आसान नहीं, क्यों अमीना ?

अमीना—सही, हुज़ूर, नरगिस झूठ नहीं बोलती। बीते सालोंकी मुहब्बतका बोझ यह अभी तक ढोये जा रही है। रह-रहकर उसकी याद मँडराती, इसके चेहरेपर उतर आती है।

जहाँनारा
नरगिस } —[**एक साथ**]—क्या ? क्या ?

अमीना—हाँ, देखिए तो, शाहज़ादी, इसके गाल कानों तक लाल हो गये। कुछ झूठ कह रही हूँ ?

जहाँनारा—सो तो सही, अमीना, गाल तो सच इसके कानों तक लाल हो गये। पर बात क्या है, आख़िर सुनूँ तो।

नरगिस—बात ख़ाक नहीं है, हुज़ूर। आप भला क्यों इसे उकसाये जा रही हैं ? अपना ग़म ग़ल्त करनेके लिए मुझे क्यों भाड़में झोंके दे रही हैं ?

जहाँनारा—मेरा ग़म ? मैं अपना ग़म ग़लत कर रही हूँ, हाँ।

[**चुटकी काटनेसे अमीनाका चीखना**]

अमीना—देखिए, देखिए, शाहज़ादी, मुई चुटकी काट रही हैं, जिससे भेदकी बात न उगल दूँ।

जहाँनारा—नरगिस, ऐसा न कर। कहने दे उसे। हाँ, अमीना, रह-रह कर किसकी याद मँडराती, इसके चेहरेपर उतर आती है ?

अमीना—अरे उसी सलोने तातारकी जो कभी खोजेके नामसे हरममें घुस आया था, जिसे नरगिस ख़ाला कहा करती थी।

[**तीनोंका एक साथ ठहाका मारकर हँसना**]

नरगिस—अपनी भूल गई अमीना, शीशमहलके पिछवाड़ेकी बात, जब मीना बाज़ार और मच्छी भवनके कोने जैसे काना-फूसी किया करते थे, जब दीवाना बनजारा सँपेरा बनकर आता था, जब आबरवाँके पीछे मछली तड़प उठती थी।

जहाँनारा—अरे, बस ! बस ! नरगिस, क्या बकती है ? देख अमीनाके हाथसे चँवर छूट चला। नरगिस, सम्हाल उसे, सहारा दे।

[**तीनोंका फिर ठठाकर हँसना**]

अमीना—अच्छा ! अच्छा ! शाहज़ादी। पर सहारेकी ज़रूरत मुझे नहीं उसे होगी जिसका दिल 'बफ्त हवा' की जालीके पीछे वासन्ती साफ़ेके सफ़ेद तुर्रेकी तरह हिल रहा है।

जहाँनारा—[**दर्दभरी आवाज़में**]—सही, अमीना, सहारेकी ज़रूरत उसीको है।

नरगिस—छि: अमीना !

अमीना—माफ़ी, शाहज़ादी। ग़लती हुई। घुटने टेकती हूँ— [**घुटने टेकती है**]।

जहाँनारा—कोई बात नहीं, अमीना। तुमने बेजा नहीं कहा। मज़ाकमें कहा। पर बात सही है। [**साँस खींचकर**] है मुझे ज़रूरत सहारेकी। मेरा सहारा····मगर वह ग़रीब है जो दुनियाके सामने कभी मेरा न हो सकेगा। बेशक उसका राज हरमके भीतर उस धड़कते दिलकी चहारदीवारीमें होगा, जहाँसे मुग़लिया ख़ानदानके सख़्त क़ायदे भी उसे नहीं निकाल सकेंगे। काश मैं उन क़ायदोंको बदल सकती! काश अब्बा उस नीतिको बदलकर उसे अपना लेते, जिससे अकबर आज़मने जोधाबाईको पाया था! [**लम्बी दर्दभरी साँस लेती है**] ख़ैर न सही। पर आज कोई देखे, बूँदीकी रेतका पौधा शाही हरमके अंगूरी बाग़में लग गया है। उसकी जड़ें इस ज़मीनमें गहरी, बहुत गहरी चली गई हैं, और उन्हें शीशमहलकी शाहज़ादी आँखोंके पानीसे सींचती है, अपने किमख़ाबी दामनमें मिट्टी भर-भर ढकती है। [**लम्बी दर्दभरी साँस**] यह मेरा भेद है जो तैमूरिया ख़ानदानके बेरहम काज़ी भी नहीं जान सकते, नहीं मिटा सकते।

[**सकीनाका प्रवेश**]

आह! सकीना, आ गई तू। बोल, चेहरेकी हँसी देख रही हूँ। अल्लाह ख़ुश है, उसे मंज़ूर है।

सकीना—अल्लाह ख़ुश है, शाहज़ादी, उसे मंज़ूर है।

जहाँनारा—पर बोल, बोल तो।

सकीना—दरबार उठ गया था, शाहज़ादी, जब मैं वहाँ पहुँची। ख़ानख़ाना राजाको कुछ सलाह दे रहे थे। दरवाज़े बन्द हो रहे थे। फ़ानूसोंकी बत्तियोंकी ओर हाथ लपके ही थे कि मैं मीनारे-अव्वलके गहरे

सायेमें जा खड़ी हुई। जानती थी, ख़ानख़ानाके जाते ही राजा दस्तक देने उधर मुड़ेगा। राजा मुड़ा।

जहाँनारा—फिर ?

सकीना—फिर, शाहज़ादी, राजा मुड़ा। मीनारको दस्तक देनेके लिए जैसे ही वह झुका, उसने मुझे देखा। कुछ ठिटका, उसके मुँहसे हल्के-से निकल पड़ा—'कहीं देखा है।' 'देखा है', मैं बोली, 'परकोटेके पीछे, उसकी बग़लमें जिसका नाम कोई नहीं ले सकता।' राजाकी आँखें चमकीं। बोला—'परकोटेके पर्देके पीछे, हाँ। और हाँ, उसकी बग़लमें जिसका नाम मेरे हियेका भेद है।'

जहाँनारा—फिर ? फिर ?

सकीना—फिर मैंने कहा—'वक़्त नहीं है ? बस इतना है कि इसे दे दूँ।' और मैंने आपका मोतियोंका हार उसकी ओर बढ़ा दिया। पल भरमें दिलेर राजाके कन्धे झुक गये, शाहज़ादी। घुटने टेक उसने झुके सिरके ऊपर अपने हाथ उठा लिये। हार मैंने उसकी खुली हथेलियोंपर रख दिया। हारको गलेमें डालता राजा बोला—'कहना उस देवीसे, जो हार ले चुका हूँ उसे इस मुक्ताहारके बदले कैसे दूँ ? पर उसे हृदयपर रखे लेता हूँ जहाँसे इसे मौत भी अलग न कर सकेगी। कहना, 'गँवार राजपूतका कन-कन उस नामको टेर रहा है जो ज़बानपर नहीं लाया जा सकता।'

जहाँनारा—सकीना, तू सोना है ! अच्छा, फिर ?

सकीना—फिर राजा उठा। चला गया। उसके पैर बोझिल हो रहे थे, मन-मन भरके, जैसे उठते न हों। मैंने उसे अँधेरेमें धीरे-धीरे ग़ायब होते देखा। जैसे सूरज पहाड़के पीछे छिप जाता है, राजा भी दीवारोंके पीछे मुड़ गया। पर जैसे सूरजका तेज़ डूबकर भी नहीं खोता, राजाका तेज़ भी उस धुँधलेमें रोशन था।

जहाँनारा—राजा चला गया, सकीना, पर सीनेमें एक पौध लगा गया, जो मेरी तनहाइयोंको भरेगा। चल, सकीना, उधर जमुनाके पार पच्छिममें दूर बूँदीकी राहमें राजाके घोड़ोंके खुरोंसे उठी धूलके बादल चमकते चाँदके नीचे देखें।

दूसरा दृश्य

[**शिशिरका प्रभात। आगरेके क़िलेका शाही महल। जहाँनाराका समृद्ध कमरा, जिसे दुनियाके कलावन्तोंने सजाया है। गंगा-जमुनी शैय्यापर मख़मली भारी बिस्तर। तकियोंके बीच पड़ी, करवट बदलती जहाँनारा। अमीना और नरगिस। द्वारके पास खड़ी सकीना।**]

जहाँनारा—रात कितनी बड़ी हो गई जो काटे नहीं कटती!

सकीना—मुसीबतकी है, शाहज़ादी, पहाड़ हो जाती है। काटे नहीं कटती।

जहाँनारा—कबकी सोई हूँ, पर जैसे यह रात बीतेगी ही नहीं।

सकीना—नींद नहीं आई, शाहज़ादी?

जहाँनारा—नींद तो हर ले गया बियाबाँके पार बूँदीको, उसका राजा।

सकीना—उसकी नींद भी हराम हो गई है, शाहज़ादी। उसके दिलमें भी तड़पन है, और थोड़ी नहीं, जो रातके सन्नाटेके सायेमें करवट बदल-बदल उठती है। उसकी रात भी जाड़ेकी है, शाहज़ादी, और यादभरी।

जहाँनारा—जाड़ेकी रात, फिर यादभरी। सही कहा, सकीना तूने। या ख़ुदा, तूने रात क्यों बनाई? रातका सन्नाटा तूने दर्दकी टीस और मुहब्बतकी तड़पनके लिए क्यों चुना? पर क्या रात, क्या दिन! यहाँ तो दोनों एक-से हैं, दोनोंकी टीस और तड़पन एक-सी है। [**ज़रा रुककर**] अच्छा देख, नरगिस, ज़रा खिड़कियोंके

काले पर्दे गिरा दे। अँधेरेमें ग़मका साया रहता है, और उसमें उसका बेदाग़ चेहरा साफ़ चमकता है। गिरा दे पर्दे, और छोड़ दे मुझे अकेली।

[**तीनोंका प्रस्थान**]

[**ज़रा रुककर**] नहीं रुकनेकी, दिनकी दमक है न ? अमीना, उठा दे पर्दे।

[**अमीनाका प्रवेश**]

अमीना—अच्छा, शाहज़ादी।

जहाँनारा—और सकीना कहाँ गई ? बुला तो उसे ज़रा।

सकीना—[**प्रवेशकर**]—यह आई।

जहाँनारा—इधर आ। बैठ यहाँ, हाँ, ज़रा और पास। और देख, वह अपना गाना तो ज़रा सुना—वह दर्दभरी रागिनी।

[**सकीना गाती है**]

जहाँनारा—बन्द कर, सकीना ! इस रागिनीने तो जैसे और हूक उठा दी। कौन कहता है कि गानेसे ग़म ग़लत होता है ? यहाँ तो याद जैसे और रग-रगमें बिंध गई। जिस्ममें कहीं एक जगह तकलीफ़ हो तो इन्सान सम्हाले भी पर सारा जिस्म ही जो तीरोंकी सेजपर पड़ा हो तो वह क्या करे ?

[**घबड़ाई हुई नरगिसका प्रवेश**]

नरगिस—ग़जब हो गया, शाहज़ादी !

सब एक साथ—क्या हुआ ?

नरगिस—ग़ज़ब ! धर्मातके जंगमें हाजी जीत गया। शाहज़ादा शिकोह क़िलेकी बुर्जियोंके नीचे हैं, सलामत, पर थके और बेज़ार।

जहाँनारा—और राजा ?

नरगिस—राजा सही सलामत हैं, बूँदीमें। जब राजपूत बे-अन्दाज़ गिर गये और शिप्राका पानी उन जवाँमर्दोंके ख़ूनसे लाल हो गया तब महाराजा जसवन्तसिंहने राजाको कुमक लाने भेज दिया।

जहाँनारा
सकीना —शुक्र ख़ुदाका !
अमीना

जहाँनारा—परवरदिग़ार, तेरी रहमत बड़ी है। आज तूने मुझे डूबनेसे बचा लिया। अमीना, हुक्म भेज बूँदीकी राहमें कि राजा बजाय बाग़ियोंकी राह रोकनेके दरबारमें हाज़िर हो।

अमीना—जो हुक्म !

[**प्रस्थान**]

जहाँनारा—वे जोधपुर लौट गये !

[**अमीनाका प्रवेश**]

अमीना—शाहज़ादी, बादशाह सलामतका हुक्म है—दरबार दिल्ली चले।

जहाँनारा—हूँ ! ख़तरेके डरसे दरबार दिल्ली जा रहा है। पता नहीं क्या होगा। सल्तनत ख़तरेमें पड़ गई। दुनिया उसे हाजी कहती है। हाजी नहीं है वह। उसकी ताक़त फ़रगनाके उजबक तुर्क जानते हैं, जिनके सामने सरे मैदान उसने शामकी नमाज़ पढ़ी थी, दुश्मनोंके बीच। उसके तेवर कौन सम्भालेगा, ख़ुदा ? कौन इस सल्तनतके अकेले अवलम्ब दाराकी रक्षा करेगा, परवरदिगार ?

[**सबका प्रस्थान**]

तीसरा दृश्य

[दक्खिनकी ओरसे शत्रुकी सम्मिलित सेनाके आगरेकी ओर बढ़नेकी सूचना। शाहजहाँका दिल्लीसे आगरेको प्रस्थान। नेपथ्य में ऊँट, हाथी, घोड़े, पालकीके कहारोंकी आवाज़। पैदलोंके पैरोंकी चाप। सीकरीमें पड़ाव। सीकरीके महलोंमें एकाएक साँझके समय कानोंको बहरा कर देने वाली आवाज़ोंकी गूँज। कारवाँसरायमें शाही अंगरक्षक सेना ठहरी है। सामने खुले मैदानमें बूँदीके छत्रसालका डेरा है। ख़ास महलके सायेमें ख़्वाबगाहमें शाहजहाँ आराम कर रहा है। पास ही तुर्की बेगमके कमरेमें जहाँनारा और उसकी बाँदियाँ।]

सकीना—शाहज़ादी, राजा पहुँच गया है। उसके घुड़सवार पहलेसे ही डेरा डाले पड़े हैं। बूंदीका बहादुर रिसाला आगे बढ़ चुका है। राजाको हमारे यहाँ आनेकी खबर थी ही, रिसालेकी एक टुकड़ी लिये वह यहाँ आ पहुँचा।

जहाँनारा—तू मिल सकी राजासे, सकीना ?

सकीना—हाँ, शाहज़ादी। दरबारमें हाज़िर होनेका हुक्म हुआ था, उसी हुक्मके साथ मैं भी राजाके सामने हाज़िर हुई। राजाने देखा, पहचाना। पुराना घाव जैसे खुल पड़ा। पर अपनेको सम्हाल कर वह ख़ेमेके बाहर निकला, पूछा—'शाहज़ादीकी क्या आज्ञा है ?' 'ठीक समझा आपने। वहींसे आई हूँ।' मैंने कहा, फिर पूछा—'क्या जोधाबाईके महलमें आज आधीरातको मिल सकेंगे ?' राजा बोला—'निश्चय।'

जहाँनारा—फिर, सकीना ?

सकीना—फिर मैं चली आई, शाहज़ादी। दरबारका हुक्म जल्दी हाज़िर

होनेका था। राजाको जल्दी थी पर पल भरके लिए जैसे उसे दुनियाका गुमान न रहा, दरबारका भी नहीं।

जहाँनारा—राजा कैसा लगता था, सकीना ?

सकीना—कुछ चिन्तित जान पड़े, शाहज़ादी। शक्ल अँधेरेमें कुछ साफ़ न दीख सकी। बाहर चाँदनी थी पर पेड़के सायेमें बस उनकी फैली छाती और घुँघराले बाल देख सकी, गो कानके मोती अँधेरे में भी रह-रहकर दमक उठते थे। राजाकी एक झलक ख़ेमेकी रोशनीमें भी दीख गई थी, पर वहाँसे जल्द अँधेरेमें हट आना पड़ा था। रोशनीमें चेहरा कुछ उतरा मालूम पड़ा।

जहाँनारा—राजा चिन्तित है, सकीना। उसके सामने एक मुसीबत नहीं, कई हैं। सल्तनतके उखड़ते हुए पाये सम्हाले नहीं सम्हलते। फिर भीतरका दर्द बराबर बढ़ता गया है। राजा, सच मानो, अपनी मुसीबतोंमें तुम तनहा नहीं हो! [**आह भरना**]

सकीना—शाहज़ादी, अगर आज हम मुसीबतके सायेमें न मिलते तो मुबारकबाद देती। आज जो कहीं शाहज़ादाका सितारा बुलन्द होता!

जहाँनारा—आह, सकीना, आज दाराका सितारा जो कहीं बुलन्द होता!

सकीना—ख़ुदाकी रहमत फलेगी, शाहज़ादी। जो इतना दिलेर, इतना इन्साफ़पसन्द है उसका बाल बाँका न होगा। हमारी हज़ार मिन्नतें उसके साथ हैं, हजार-हजार दुआएँ हमारे शाहज़ादेको उम्र और इक़बाल बख्शेंगी।

जहाँनारा—तेरे मुँहमें घी-शक्कर, सकीना! तेरी ज़बान सही उतरे! पर मैं जब आगेकी सोचती हूँ तब जैसे मेरे अरमानोंकी दुनिया बिलख उठती है। पानीमें आग लग जाती है। कैसे समझाऊँ दिलको ?

सकीना—समझाओ, शाहज़ादी। तुम इस ज़मीनकी नहीं हो। तुममें फ़रिश्तोंकी अक़्ल और जवाँमर्दोकी हिम्मत है। तुम कहीं अपना

साहस न खो देना। बुजुर्ग बादशाह सलामतकी बस तुम्हीं सहारा हो, दाराशिकोहकी तुम्हीं आड़ हो, राजाकी तुम्हीं साँस।

जहाँनारा—हिम्मत नहीं हारूँगी, सकीना। इस खानदानमें जब पैदा हुई हूँ तब इसके सुख-दुख दोनोंको हाथ बढ़ाकर लेती हूँ! हाँ, जानती हूँ कि अब्बाकी बुढ़ौतीका सहारा मैं ही हूँ। भाईकी आड़ भी मैं ही हूँ, इस बहादुर राजाके दिलका भेद भी। या खुदा, मुझे ताक़त दे कि मैं तीनों ज़िम्मेदारियाँ निभा सकूँ। [**साँस भरकर**] अच्छा, सकीना, तैयारी कर। शाम गहरी हो चली, पड़ावोंकी आवाज़ धीमी पड़ने लगी। थोड़ी देरमें जोधाबाईके महलकी ओर चलेंगे।

सकीना—जो हुक्म, शाहज़ादी।

[**चाँद डूबा नहीं पर सीकरीकी दीवारोंके पीछे जा छुपा है। क़िलेके महलोंपर हल्की छाया है। दूरी अँधेरेका सहारा हो गई है। अकेला राजा जोधाबाईके महलकी सीढ़ियोंपर खड़ा है**]

[**जहाँनाराका प्रवेश, सकीनाके साथ**]

सकीना—शाहज़ादी, सीढ़ियोंके पास, ये रहे बूँदीके महाराज।

राजा—देवि, छत्रसाल उपस्थित है। अभिवादन! [**झुकता है**] स्वागत!

जहाँनारा—प्रसन्न हैं, महाराज?

राजा—अभीष्ट उपस्थित होनेपर जितनी प्रसन्नता साधकको होती है, उससे कम मुझे नहीं, देवि! अहोभाग्य जो आपके दर्शन हुए!

जहाँनारा—मिलकर प्रसन्न हुई, महाराजा।

राजा—आप चिन्तित हैं, शाहज़ादी।

जहाँनारा—विकल हूँ, महाराज! चित्त अस्थिर है। पर भला केवल सुख किसका रहा है?

राजा—जानता हूँ, देवि, सल्तनतका बोझ कन्धोंपर है। हिन्दुस्तानकी प्रजा इन्हीं कन्धोंकी ओर देखती है।

जहाँनारा—सल्तनतका बोझ, महाराज, ये कमज़ोर कन्धे नहीं सम्हाल सकते। उसका भार उन कन्धोंपर है जिनपर फ़रिश्तोंको शरमा देने वाला महाराजका मस्तक है।

राजा—दुनिया जानती है, शाहज़ादी, कि दिल्लीका तख़्त उस करुण नारीकी मेधापर टिका है जिसका आसरा बादशाहको भी है, उसका अवलम्ब शाहज़ादा दाराको भी, और····।

जहाँनारा—कहें चलें, महाराज !

राजा—नहीं कहूँगा, देवि, यह अपनी बात है और अपनी बात न कहूँगा। इस कठिन कालमें पासकी सीमापर उठते-मँडराते मेघोंकी श्यामल छायामे अपनी बात कहना स्वार्थ होगा।

जहाँनारा—सच महाराज, सरहदपर ख़तरेके बवंडर जो सल्तनतको निगल जानेके लिए मुँह बाये बढ़े आ रहे हैं। मँडराते मेघोंके नीचे कूचके डंके और मातमके बाजे बज रहे हैं। दिल बैठा जाता है। क्या होगा, महाराज ?

राजा—क्या होगा, सो नहीं कह सकता, शाहज़ादी, पर क्या करूँगा, वह जानता हूँ।

जहाँनारा—वह तो मैं भी जानती हूँ, महाराज ! जानती हूँ, राजपूत ख़ूनकी होली खेलता है। उसके लिए जंग त्यौहार है, मौत एक बहाना। पर मैं पूछती हूँ क्या हश्र होगा इस ख़ानदानका जिसके शाहज़ादे एक दूसरेके ख़ूनके प्यासे हो रहे हैं ?

राजा—नहीं जानता, देवि, सो नहीं जानता। बस एक बात जानता हूँ—यह तलवार है जिसे सल्तनतकी रक्षाकी शपथ लेकर धारण किया है, इसे बेआबरू न होने दूँगा। तलवारसे बढ़कर राजपूतके लिए दूसरी कोई चीज़ नहीं।

जहाँनारा—जानती हूँ, महाराज ! यह क़ौल नहीं, स्वभाव है । राजपूतके दायरेमें जो आते हैं उनका सहारा भी उसकी यही अचूक तलवार होती है । उसी तलवारको अपना करने आज आई हूँ ।

राजा—वह तलवार कब अपनी न थी, देवि ? कब वह उस अवसरकी प्रतीक्षामें न रही जब आपके काम आकर निहाल हो जाय ?

जहाँनारा—वह पूछनेकी बात नहीं, महाराज ! पर आज एक बात कहने आई हूँ । ख़ासकर आपसे । इस छिपते चाँदके सायेमें, इन जोधा-बाईके महलकी पवित्र दीवारोंके सायेमें, भीगती रातके सन्नाटेमें कुछ कहने आई हूँ ।

राजा—कहे देवि, छत्रसाल उन्मुख है ।

जहाँनारा—आज मै आपेमें नहीं हूँ, महाराज ! मुझे दुश्मनकी बहादुरी और उसकी ताक़तका डर नहीं है, और न इसका कि बाबरकी बनाई इमारतकी नींवकी ईंटें बिखर जायँगी । ना, क़त्तई नहीं । बात कुछ और है जो मुझे बेदम किये दे रही है । कैसे कहूँ ? बात ज़बानपर आती-आती लौट जाती है । अच्छा, एक बात बताओ, राजा !

राजा—पूछें शाहज़ादी ।

जहाँनारा—क्या सारे राजपूतोंको अपने क़ौलका अभिमान है ? क्या धर्मातकी हार आगेकी मुसीबत खोलकर नहीं रख देती ? क्या जोधपुरकी रानीने जो जसवंतसिहके सामने क़िलेके दरवाज़े बन्द करा दिये थे, उसके कुछ माने नहीं ? मैं जो बात कहना चाहती हूँ उसे कह नहीं पा रही हूँ, महाराज, पर पूछती हूँ क्या दाराका भविष्य उस आचरणसे नहीं बँधा है ?

राजा—अच्छा होता, शाहज़ादी, आज आप उस बातको न उठातीं । अनेक-अनेक रातें मारवाड़-नरेशके उस आचरणको गुनतीं रही हैं । उसका उत्तर वास्तवमें वही है जो मेवाड़की लाज उस जोध-

पुरकी रानीने अपने आचरणसे दिया ! और आगे मुझे कुछ कहनेपर बाध्य न करें, देवि !

जहाँनारा—नहीं, बाध्य नहीं करूँगी। बस इशारा भर करना चाहती थी कि अपनी दीवारकी ईंट ढीली हो रही है, राजपूतके ईमानमें बट्टा लगनेवाला है। सूरजमें कालिख लग जायगी, महाराज, अगर राजपूतकी तलवार घुटनेपर टूटी।

राजा—छत्रसाल राजनीति नहीं जानता, देवि। न पिछले आचरणको देखकर अगली घटनाओंको समझनेकी ही उसमें शक्ति है और न ही उस आचरणको याद करने-गुननेकी अब क्षमता। पर हाँ, जो जोधाबाईके महलकी इन पवित्र दीवारोंको छूकर, उस डूबते चाँदको साक्षी कर वह प्रण करता है कि उसकी तलवार घुटनेपर न टूटेगी। काश, देवि, मैं शिप्राके तटपर रहा होता !

जहाँनारा—जानती हूँ, महाराज, तब पाँसा पलट जाता। तब हाजीकी दिलेरी भी बूँदीकी धारमें डूब जाती, पर उस बीती बातको जाने दो। और याद रखो कि बेशक मैं चाहती हूँ कि सूरजमें कालिख न लगे, कि राजपूतकी तलवार घुटनेपर न टूटे, पर उसके नतीजेसे काँप उठती हूँ, राजा ! और यह साध कि राजपूतकी तलवार घुटनेपर न टूटे और राजपूतकी उम्र लाख बरस हो, मेरी छातीकी धड़कन है।

राजा—न कहे, शाहज़ादी, रहने दें, घाव खुल जायगा।

जहाँनारा—राजा, आज अगर सल्तनतका खतरा सामने न होता तो अपनी बात कहती।

राजा—न कहें, देवि, वह बात। उसका बोझ बाहरकी ओछी हल्की हवा न उठा सकेगी। हृदयकी पावन दीवारें अपने घेरेमें मन्त्रकी भाँति उसे रखेंगी। उसी मन्त्रकी सौगन्ध खाकर, उसी बातको साक्षी

कर, छत्रसाल आज नतमस्तक होता है, अपने प्राणोंसे अंजलि भरकर उसे भेंटता है।

जहाँनारा—बस-बस महाराज, उन्हें इस प्रकार दान करनेका हक़ आपको नहीं। [**काँपती आवाज़में**] वे सल्तनतकी धरोहर हैं, मेरे अरमानोंके देवता ! एक बात कह दूँ—बादशाहको अपने तख्तताऊसपर इतना नाज़ नहीं जितना तुम्हारी आनपर है, तुम्हारी तलवारके पानीपर।

राजा—वह तलवार, शाहज़ादी, उस नाज़ और उस विश्वासको किसी अंशमें झूठा न करेगी।

[**क्षणभर चुप्पी**]

जहाँनारा—अगला मोर्चा कहाँ है, राजा ?

राजा—अगला मोर्चा आगरेके पास ही होगा, शायद सामूगढ़में। दकनकी सेनाएँ मंज़िलपर मंज़िल मारतीं आगरेकी ओर बढ़ी आ रही हैं। शाहज़ादा दारा भी दिल्लीसे निकल पड़े हैं। मेरे और जोधपुरी रिसाले भी पूरबकी मंज़िल तै कर रहे हैं। अम्बरकी फ़ौजें बयानाके क़िलेमें डेरा डाले पड़ी हैं, समरके लिए कटिबद्ध। मैं पौ फटते कूच कर दूँगा।

जहाँनारा—सामूगढ़ बहुत पास है, राजा ! गुजरात और दकनकी शामिल फ़ौजें अपनी मंज़िलें तै कर रही हैं। मुराद और हाजी दोनों ग़ज़बके लड़ाके हैं, ग़ज़बके मक्कार। और हाजी तो शैतानकी हसरत बनकर उतरा है। उधर शुजा बंगालसे रातदिन बढ़ा चला आ रहा है। सुना है चुनार तक आ पहुँचा है। ख़ुदा ही ख़ैर करे !

राजा—ख़तरा बड़ा है, मैं इससे इन्कार नहीं करता। अपनी हालत नाज़ुक है, इससे भी नहीं। पर प्रयत्न करना अपना काम है। प्रयत्नसे मुँह मोड़ना कायरता है। लड़ाईके मैदानमें उससे सामना होगा जो

सल्तनतके ताजपर आँख लगाये है। शाहज़ादी, मुराद और शुजा वीर हैं, बाँके लड़ाके हैं, पर डर उनसे नहीं है। जबतक शराबके दौर उनसे नहीं छूटते, उनसे कोई ख़तरा नहीं। ख़तरा उससे है जो धर्मके नामपर रक्तकी नदी बहाता और उसे लाँघता है। उसका मुक़ाबला ज़रा तीखा होगा।

जहाँनारा—हाँ, उसका मुक़ाबला ज़रा तीखा होगा। उसके सामने रोशनारा-का पलड़ा भारी है। रोशनारा और हाजी बाबरकी इस इमारत-की जड़ खोदनेपर आमादा है। हाँ, और खोद दें उसकी जड़, मैं उससे भी नहीं डरती। दारा और सिकन्दरकी सल्तनतें भी आज बियाबाँ-में खो गई है, उनकी शान आज सुननेकी कहानी बन गई है। चंगेज़ और तैमूरकी सल्तनतें भी आज बीते सपने बन गई हैं। सच, मुझे सल्तनतको क़ायम न रख सकनेका इतना मलाल नहीं जितना इस बातका है कि मक्कारीका दामन बढ़ता जा रहा है। और शायद जीत उसीकी होगी, राजा, मेरे अवलम्ब तुम हो। पत रखना, राजा।

राजा—राजपूतके पास उस मक्कारीका जवाब नहीं है, शाहज़ादी। उसकी परम्परामे अलाउद्दीन और हाजी नहीं आते, कुम्भा और साँगा आते हैं, जो आनपर मिट जाते हैं। जाता हूँ, जिस प्रणको इन पवित्र दीवारोंको सुनाकर घोषित किया है, उसे पूरा करूँगा। सामूगढ़पर ही शायद घमासान होगा। वहीं राजपूती आनकी परीक्षा है। पठानोंने घरकी इस लड़ाईकी आड़में यूसुफ़ज़ईका इलाका ले लिया है। पंजाब बेदम है, बंगाल आज़ाद हो चुका है। उसका हाकिम शुजा अपनेको शाह ऐलान कर चुका है। मुराद अपनी गुजराती सेनाके सामने कबका राजतिलक ले चुका है। पर दाव लगानेवाला हाजी है। जाता हूँ, जीतकी आशा नहीं दिलाता, देवि, जीतका फ़ैसला कहीं औरसे होता है, पर यह

विश्वास दिलाता हूँ कि सामूगढ़ धर्मात नहीं बनने पायगा। लोहे-से लोहा बजेगा, राजपूतकी बाँह न थकेगी। जाता हूँ, दाराका झण्डा मुझे भी उठाना है और जो बचा रहा तो शायद फिर कभी यह आवाज़ सुननेको मिले।

जहाँनारा—जाओ, राजपूत ! जाओ, राजा ! तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा मेरी दुआएँ करेंगी। जाओ, सब कुछ मिट चुका है, जो है, ख़तरेमें है, पर इंसान अब भी अपनी आनपर डटा है, अपने क़ौलपर क़ायम है—यह कुछ कम सन्तोषकी बात नहीं।

[**प्रस्थान**]

चौथा दृश्य

[आगरेका क़िला ! शाहजहाँका शीशमहल। बाहर दरबारे-आमके सामने बड़े मैदानमें घोड़े-हाथियोंका जमघट। सामूगढ़के युद्धमें दाराशिकोह और राजपूतोंकी पराजय। भागा हुआ दारा। दरबारे-ख़ासमें शाहजहाँ खड़ा है, जहाँनाराके आगे। सामने दारा, सरदारोंके साथ]

दारा—सब खो गया, जहाँपनाह ! सारा ख़त्म हो गया !

शाहजहाँ—सब खो गया, दारा, सल्तनत ख़ाकमें मिल जायगी। हाजी, मुराद और शुजाको भी कुचल देगा। बेटा, अब क्या होगा ?

दारा—नहीं जानता, अब्बाजान, अब क्या होगा ! ख़ुदा समझेगा ज़ालिमों-से। जहाँ तक फ़र्ज़ था, किया, अब बियाबाँकी ख़ाक छानने चलता हूँ।

शाहजहाँ—बेटे, इतनी बड़ी सल्तनतमें क्या तुम्हें पनाह नसीब न होगी जो दर-ब-दर फिरने जा रहे हो ? ठहरो, दारा, शाहजहाँका बुढ़ापा अभी बुज़दिलीका क़ायल नहीं हुआ। आने दो उन्हें।

एज बार फिर जंगमें उतरूँगा। फ़रग़ना और काबुलकी तलवार एक बार फिर आगरेके हरममें चमकेगी।

दारा—अब्बा, उतावले न हों। सब कुछ खोकर भी अभी कुछ बाक़ी है। राजपूतोंके सूरमा अभी सल्तनतको उखड़ने न देंगे। पंजाब और मारवाड, सिन्ध और पहाड़ अब भी हाथमे है। जाता हूँ एक बार और क़िस्मत आज़माने। अगर ज़िन्दा रहा तो लौटकर क़दम चूमूँगा। अल्विदा! [**शाहजहाँकी ओर बढ़कर घुटने टेक देता है। शाहजहाँ उसके सिरपर हाथ फेरता है।**]

शाहजहाँ—जाओ, दारा, सब कुछ मेरे जीते-जी ही लुट गया। आज शायद इसी घड़ीसे इस अपने ही बनाये महलका एक चप्पा अपना नहीं, सहारा लेनेको एक खम्भा तक नहीं। जाओ, बेटे, कोशिश करनेसे न चूको। अल्लाह तुम्हारी मदद करेगा। अल्विदा!

[**दारा और शाहजहाँका गले मिलना**]

दारा—[**बहनसे**] बहन जहाँनारा, दारा तुम्हारी हज़ार-हज़ार मेहरबानियोंका कर्ज़दार है। हज़ार-हज़ार शुक्रिया! बियाबाँसे लौटकर मिलूँगा। अल्विदा! [**गलेसे लगा लेता है।**]

जहाँनारा—[**भर्राई आवाज़में**] भाई, जवाँमर्द दारा, अल्विदा! जाओ भाई, खुली हवामें जाओ। आगरेकी दीवारोंपर शैतानका साया पड़ गया है। दूरके जंगल और रेगिस्तान अब भी आज़ाद हैं, आज भी उनपर ख़ुदाका नूर बरस रहा है, उनकी आज़ाद हवामें साँस लो। हमें ख़ुदाकी रहमत और हमारी क़िस्मतपर छोड़ दो। जाओ, भाईजान, बहनकी हज़ार दुआएँ तुम्हारी रक्षा करेंगी। बचपनकी हज़ार साधें तुम्हारे साथ जायँगी, अल्विदा! हुनर और तलवारकी हदें नहीं होतीं, दारा, जाओ खुली हवामें उन्हें परखो। अल्विदा!

[**दाराका प्रस्थान**]

शाहजहाँ—[**बैठता हुआ**] ज़माना बदल चला है। क़िस्मतने करवट ली है। अब्बा आज़मके आख़िरी दिन इन्हीं हाथोंने सदमेंमें डाल दिये थे, अब शायद ये खुद दूसरोंका आसरा करनेवाले हैं। पर न, मक्कारोंकी हुकूमत मुझे मंजूर न होगी। या ख़ुदा, क्या होनेवाला है? इसी अपने बनाये हरमसरामें मोती मस्जिदकी इन्हीं बुर्जियोंके नीचे, क्या शीशमहलकी इन्हीं दीवारोंके भीतर शाहजहाँको क़ैदके दिन काटने होंगे? ताजकी मीनारो! अपने शाहजहाँको अपने सायेमें बुला लो, जगह दो!

जहाँनारा—अब्बाजान, वक़्त इम्तहानका है, हिम्मत न हारें। आपने दकन और काबुल जीते हैं। दुनिया कभी अपनी थी, आज नहीं है। पर सिर और हिम्मत अपने हैं, नहीं झुकेंगे। चलें, अन्दर चलें। दाराके हौसले आज भी सितारोंकी बुलन्दीपर हैं, उसके राजपूतोंमें आज भी ग़ज़बकी बहादुरी है। क़िस्मत फिर करवट लेगी, जहाँपनाह!

[**शाहजहाँ जाता है। सकीनाका प्रवेश**]

सकीना—[**जहाँनाराके कानमें दर्दके साथ**] शाहज़ादी, बूँदीके रिसालेका एक सिपाही हाज़िर है। राजाका पैगाम लेकर आया है। आपसे ही कुछ कहना चाहता है। घायल है।

जहाँनारा—लाओ उसे सिपाहबुर्ज़की सीढ़ियोंपर। मैं उसीके साये बैठती हूँ। [**जहाँनाराका सिपाहबुर्ज़के नीचे बैठना। सक़ीनाका बाहर जाकर फिर राजपूत सैनिकके साथ प्रवेश कर सीढ़ियोंपर रुक जाना।**]

सिपाही—[**मस्तक झुकाता हुआ**] ताब नहीं है, शाहजादी, महाराजका सेवक घायल है।

जहाँनारा—सकीना, हकीम, जर्राह!

सिपाही—[**बात काटते हुए**] नहीं शाहज़ादी, अब हकीमके किये कुछ न होगा। बस सुन भर लें, समय नहीं है।

जहाँनारा—बोलो, जवाँमर्द, राजा कहाँ है ?

सिपाही—महाराज वहाँ है, शाहज़ादी, जहाँ राजके लिए भाइयोंमें रक्तपात नहीं होता, जहाँ बेटा बापकी मृत्युके लिए प्रार्थना नहीं करता, उसके रक्तका प्यासा नहीं होता, जहाँ केवल सब्र और शान्ति है।

जहाँनारा—हूँ ! [**भर्राई आवाज़में**] राजा, तुमने अपना क़ौल पूरा किया !

सिपाही—सामूगढ़की लड़ाई कुछ साधारण न थी। भयानक घमासान हुआ। [**दम लेकर**] और बूँदीका रिसाला घिर कर भी लड़ता रहा। महाराजने घिरकर भी असुर-विक्रमसे युद्ध किया। शत्रु उनकी वीरता देख-देखकर दंग रह गये। पर मौत सिरपर नाच रही थी। पहले भाला टूटा, फिर तलवार टूटी, अन्तमे शत्रुके भालेने उन्हें स्वर्ग पहुँचा दिया।

जहाँनारा—हाय !

सिपाही—[**दम लेकर**] गिरते-गिरते उन्होंने एक मुक्ताहार निकाला और मुझे देते हुए कहा—'इसे शाहज़ादीको देना और कहना कि छत्रसालके कंधोंपर अब गर्दन नहीं रही जहाँ वह इसे धारण करें।' 'इसे स्वीकार करें, शाहज़ादी, अब मैं चला। [**ढुलक जाता है**]

[**जहाँनाराका हार ले लेना। हार देते-देते राजपूतका गिरकर दम तोड़ देना**]

जहाँनारा—राजा, तुम सूरमा हो, फ़रिश्तोंसे ऊँचे, जमुनाके पानीसे पाक। छत्रसाल ! इस सल्तनतकी वह शाहज़ादी, जिसके दामनपर किसी मर्दका साया भी नहीं पड़ा, तुम्हारी पूजा करती है। उसके जिस्म-

का ज़र्रा-ज़र्रा तुम्हारा शुक्रगुज़ार है। उसकी रग-रगमें तुम्हारे नामकी रवानी है। जहाँनाराके छत्रसाल, तुमने अपना क़ौल निभाया, जहाँनारा भी अपना वह क़ौल निभायगी, जो किसीने न सुना। [**दम लेकर**] सुन ले, सकीना। सुनो, सूरज और चाँद, ज़मीन और आसमान—जहाँनारा छत्रसालकी है, बूँदीके जवाँमर्द राजाकी, और जबतक वह साँस लेती है, उसकी साँसमें राजाके नामकी पुकार होगी। जहाँनाराके दिलमें राजाका बास होगा और उस दिलकी मज़ार ताजके रौज़ेसे कहीं पाक होगी। उसकी सदाएँ ताजकी बुर्जियोंसे कहीं ऊँची उठेंगी। अल्विदा, राजा! अल्विदा मेरे छत्रसाल!

[**यवनिका**]

●

गणतन्त्रगाथा

पहला दृश्य

वाचिका—**न सा सभा यत्थ न संति संतो न ते संतो ये न भणंति धंमं ।**
रागं च दोसं च पहाय मोहं धंमं भणंता न भवंति संतो ॥

वाचक—साधु ! साधु ! देवि, साधु ! जातककी अत्यन्त प्राचीन गाथा है यह—वह सभा नहीं जहाँ सन्त न हों, वे सन्त नहीं जो न्यायसंगत बात न कहें । जो राग-द्वेषादि छोड़कर न्यायसंगत धर्मकी बात कहते हैं, सन्त वे ही हैं ।

वाचिका—उन्हीं सन्तोंकी वाग्मितासे हमारी समिति और सभा मुखरित हुई थीं; हमारे गण और संघ, श्रेणी और पूग, वर्ग और निकाय, हमारी लोक-सभाके सुदूर पूर्ववर्ती ।

वाचक—उस परम्पराके प्रतीक थे हमारे अन्धक और वृष्णि, शाक्य और कोलिय, लिच्छवि और विदेह, मल्ल और मोरिय ।

वाचिका—कठ और अरट्ट, क्षुद्रक और मालव, क्षत्रिय और यौधेय, आर्जुनायन और माद्रक, आभीर और पुष्यमित्र ।

वाचक—लोकसंग्रह, लोकक्षेमके आग्रहसे सजीव थे हमारे वे गणतन्त्र, शक्तिकी सीमा, दुर्बलके बल—

वाचिका—अति प्राचीन उन्हीं अन्धक-वृष्णियोंके संघमें—

अक्रूर—**नहीं, संघ मेरे वादको सुने, उसकी अवमानना न करे । राजन्य उग्रसेनके शासनने उसे सम्पुष्ट किया है । इस वादमें अन्धकोंकी अभिरुचि है, अन्धक-वृष्णियोंका संघ इसे सुने ।**

आहुक—**वृष्णियोंके राजन्यपर, वासुदेव कृष्णपर, यहाँ आरोप उपस्थित है, राजन्य उग्रसेन, आरोपकी संघ अवमानना करे ।**

अक्रूर—व्यक्तिकी मर्यादा वर्गकी मर्यादासे बड़ी नहीं, वर्गकी मर्यादा गणकी मर्यादासे बड़ी नहीं, आहुक, गणकी मर्यादा सघकी मर्यादासे बड़ी नहीं। फिर वासुदेवने बार-बार अन्धकोंकी, उनके राजन्य उग्रसेनकी, भर्त्सना की है। राजन्य उग्रसेनसे निवेदन करता हूँ, सघसे विनीत आवेदन करता हूँ, संघ सुने वादकी अवमानना न करे।

उग्रसेन—संघ वाद सुने। अन्धकोंके परम विरोधी वासुदेव कृष्ण आरोपका भंजन करें। दूसरोंपर आरोप करनेमें वे स्वयं सतत जागरूक रहते हैं, दोषदर्शनमे स्वयं सदा तत्पर, कभी विरमते नहीं, पलक नहीं मारते; **अक्रूरको** वे वाणी दें, आरोपका प्रतिवाद करें। संघ वाद सुने।

अन्धक वर्गके प्रतिनिधि—सुनें! सुनें!

वृष्णि वर्गके प्रतिनिधि—नहीं! नहीं!

कृष्ण—कृष्ण अक्रूरकी वाणी सुनेगा, आरोपकी अवमानना न करेगा। क्या है अक्रूरका वह आरोप? संघ अक्रूरका अभियोग सुने—

अक्रूर—आरोप है—वृष्णि वर्गके नेताका संघके प्रतिकूल् आचरण, वार्ष्णेय कृष्णका कौरव-पाण्डव युद्धमें पक्ष-धारण, जब कि अन्धक-वृष्णि-संघने उसके विपरीत अपनी उदासीन नीति घोषित की थी।

अन्धक वर्ग—साधु! साधु।

कृष्ण—मेरा आचरण संघके प्रतिकूल नहीं था, अक्रूर।

अक्रूर—वासुदेवने क्या अर्जुनका रथ-संचालन नहीं किया था?

कृष्ण—किया था, अक्रूर, पर निरस्त्र।

वृष्णि वर्ग—साधु! साधु।

अक्रूर—वासुदेवने क्या युद्धसे उदासीन मध्यपाण्डवको समरके लिए तत्पर नहीं किया था?

कृष्ण—किया था, अक्रूर, तत्त्वबोधके लिए।

वृष्णि वर्ग—साधु, वासुदेव, साधु !

अक्रूर—क्या वासुदेवने पाण्डवोंकी विजयकामना नहीं की थी ?

कृष्ण—की थी, अक्रूर, सत्यपक्षकी विजय-कामना की थी। मनसा निरोध संघका आदेश नहीं, वचसा निरोध उसका दर्शन नहीं, कर्मणा निरुद्ध मैं स्वयं रहा हूँ। अक्रूर, तुम्हारा आरोप निष्प्राण है। मैंने युद्ध रोकनेके हज़ार प्रयत्न किये और विफल हो विना अमर्षके भगिनीपति मध्यपाण्डवका निहत्था सारथी बना। वाद असिद्ध है, अक्रूर।

वृष्णि वर्ग—असिद्ध ! असिद्ध !

अक्रूर—और सुभद्राका अर्जुनके साथ पलायन किस योजनाका परिचायक था, कृष्ण ?

कृष्ण—यह विषयान्तर है, अक्रूर !

अक्रूर—और चक्रधरने शिशुपालका वध क्यों किया था ? पत्नीविरहित शिशुपालने पत्नी-अपहारी कृष्णके राजसूयमें पूजनका उचित विरोध ही तो किया था ?

कृष्ण—विषयान्तर है वह भी, अक्रूर, वादकी पुष्टि करो।

वृष्णि वर्ग—वाद निरारोपित हुआ। अभियोग असिद्ध !

अक्रूर—नारीचोर ! भगिनी भगानेवाला ! संघभेदक कृष्ण !

वृष्णि वर्ग—कुवाच्य ! कुवाच्य !

अन्धक वर्ग—नारीचोर ! संघभेदक !

[**अनेक कण्ठोंकी मिलीजुली आवाज़, शोर**]

दूसरा दृश्य

वाचक—पुरानी बात है, प्रायः ढाई हज़ार साल पुरानी, जब अपने भिक्खुओंको पुकारकर, अभिराम दुकूल धारे आभरणोंसे दमकते रजतरथोंपर चढ़े लिच्छविकुमारोंको दिखाकर तथागतने कहा था—"देखो, भिक्खुओ, देखो—स्वर्गके तैंतीस देवताओंको जो तुमने अन्तर्दृष्टिसे अबतक न देखा हो तो, भिक्खुओ, उन्हें अब देखो। इन लिच्छवियोंको देखकर उन्हें जानो। साक्षात् देखो उन्हे, सशरीर देखो"—

वाचिका—उन्हीं लिच्छवियोंकी वैशालीमें लक्ष्मीका लाड़ला वह महानाम था जिसकी एक कन्या थी, आम्रपाली। पोर-पोर खोलती बढ चली। उसकी लोनी कायामे जब छवि छलकी तब मानवकी गत बन गई। नागरिकाओंकी अलकोंके फूल मुरझा गये, उनके स्निग्ध कुन्तल रूखे हो गये, कजरारे उपान्त सूने। उनके सजन खो गये, रनिवासोंकी रागिनियाँ मूक हो गई!

वाचक—और जब कन्याका यौवन सर्प-सा छत्र उठाये विषजिह्वा लपलपाता उसे डँसने लगा और राजाओं-श्रीमानोंकी प्रणयभिक्षा जब आम्र-पालीने अस्वीकृत कर दी तब महानाम जा पहुँचा लिच्छ-विगणके संथागारमें—

वाचिका—सात हज़ार सात सौ सात लिच्छवि कुलोंका, कुलागत राजाओं-का, गण था वह। उसी वैशालीके लिच्छविगणके संथागारमें—

महानाम—महानामकी कन्या है यह, यह आम्रपाली, संथागारके भद्रासन-पर खड़ी। राजाओं, श्रेष्ठियोंके आत्मनिवेदन, श्रीमानोंके परिणय-प्रस्ताव इसने उपेक्षित कर दिये हैं। गण इसका भावी सोचे, इसका भविष्य विचारे। मर्यादासे उचकती नदीकी भाँति इस कन्याका गण विधान करे, इसके लिए योग्य वर दे। आतुर याचकों-

से वैशाली भरी है, गण विचार करे, गण विधान करे, गण कन्याका मङ्गल करे, यह मेरी ज्ञप्ति है, यही मेरी कम्मवाचा है ।

अर्णव—आदरणीय गण सुने—यह मेरी प्रतिज्ञा है—आदरणीय गण उचित परामर्शके अर्थ गुप्त अधिवेशन करे । आदरणीय गणको यदि यह मान्य हो तो वह मौन रहे, आदरणीय गणको यह अमान्य हो तो वह बोले ।

मैं फिर कहता हूँ—"आदरणीय गण सुने—मैं फिर कहता हूँ आदरणीय गण सुने"—आदरणीय गण मौन है मेरी प्रतिज्ञा स्वीकृत हुई । गुप्त अधिवेशन हो !

वाचक—और 'राजा'ने गुप्त अधिवेशनका निर्णय गणको सुनाया—"आम्रपाली स्त्रीरत्न है, गणकी ! गणकी एकजाई सम्पत्ति, एकाकी प्रभुत्वसे ऊपर ! परम्पराके अनुसार महानाम उसे गणको सौंप दे ।"

तीसरा दृश्य

वाचिका—राजगृहके महलोंमें पितृहन्ता अजातशत्रु व्याकुल टहल रहा है । वज्जियों-लिच्छवियोंके आक्रमण आये दिन मगधपर होते रहते हैं । गंगा लाँघ वे उसके तटवर्ती गाँवोंको लूट लेते हैं । पाटलि गाँवके समीप गंगा और शोणके कोणमें उसने उन्हें रोकनेके लिए कोट बना रक्खा है, पर उससे रक्षा हो नहीं पाती । वज्जियोंका संघ जीतकर वह मगधमें मिला लेना चाहता है पर उन्हें जीत पाता नहीं वह ।

वाचक—लाचार वह अपने मन्त्री वस्सकारको तथागतके पास गिद्धकूट पर्वतपर वज्जियोंको जीतनेका उपाय पूछने भेजता है । वस्सकारके मनकी बात तथागत समझ लेते हैं, उसका उत्तर वे आनन्दको देते हैं—

बुद्ध—आनन्द, क्या तुम जानते हो कि वज्जी जल्दी-जल्दी और भरी-भरी अपनी बैठकें करते हैं ?

आनन्द—जानता हूँ, भन्ते ।

बुद्ध—जानते हो, आनन्द, कि वज्जी एकमत होकर मिलते हैं, एकमत होकर कार्य करते हैं ?

आनन्द—हाँ, सुगत, जानता हूँ ।

बुद्ध—जानते हो, आनन्द, कि वज्जि लोग प्राचीन नियमोंका उल्लङ्घन नहीं करते, प्राचीन संस्थाओके अनुकूल कार्य करते हैं ?

आनन्द—हाँ, तथागत ।

बुद्ध—जानते हो, आनन्द, कि वज्जी वृद्धोंका आदर करते हैं, उनकी सलाह मानते हैं ?

आनन्द—भन्ते, जानता हूँ ।

बुद्ध—जानते हो, आनन्द, वे अपनी नारियों-बालिकाओंके साथ बल प्रयोग नहीं करते ?

आनन्द—हाँ, भन्ते ।

बुद्ध—जानते हो, आनन्द, कि वज्जियोंकी अपने चैत्योंमें, धर्ममें दृढ़ निष्ठा है ?

आनन्द—जानता हूँ, भन्ते ।

बुद्ध—जानते हो, आनन्द, वज्जी अपने अर्हतोंका संरक्षण और पालन करते हैं ।

आनन्द—हाँ सुगत, जानता हूँ ।

बुद्ध—जब तक आनन्द, वज्जियोंका यह सप्तधा शील बना है तब तक उनके पतनकी आशंका नहीं, तब तक वज्जी अजेय हैं, आनन्द ।

वस्सकार—[**स्वगत**] तब मगध द्वारा वज्जियोंका पराभव सम्भव नहीं । हिमालय तक साम्राज्यके विस्तारका मगधराजका स्वप्न निरा

स्वप्न है। अब तो स्वामीको केवल मित्रभेदका, संघमें फूट डालने वाली नीतिके अवलंबनका मत्र दूँगा।

[प्रस्थान]

नेपथ्यमें—बुद्धं सरणं गच्छामि !
धम्मं सरणं गच्छामि !
संघं सरणं गच्छामि !

चौथा दृश्य

[अनेक मानव ध्वनियाँ। क्षुद्रक-मालवोंका सम्मिलित अधिवेशन। तलवारोंकी रह-रहकर झंकार]

वाचक—तथागतके निर्वाण लिये दो सदियाँ बीत गईं। सहसा भारतके पश्चिमी आकाशपर तूफ़ानके बादल घुमड़ने लगे। सिकन्दरने दाराके विस्तृत साम्राज्यकी रीढ़ तोड़ दी थी, और अब वह पंजाबमें था।

वाचिका—हिन्दूकुश और उद्यान, आंभी और पौरव, अग्रश्रेणी और अंबष्ठ, अरट्ट और कठ, यौधेय और आर्जुनायन एकके बाद एक सर हो गये। तब व्यासके तीर ग्रीकोंको सहसा काठ मार गया, प्राचीके राजा नन्दका उनमें डर समा गया। वे लौटे।

वाचक—पर उनका लौटना भी कुछ आसान न था, जब इंच-इंच धरतीके लिए गणतन्त्रोंके नागरिक जूझ रहे थे। तब प्रायः समूचे पंजाबपर, समूचे सिन्धपर गणतन्त्रोंके शासन क़ायम थे। और उन गणतन्त्रोंमें प्रधान हँसिया और तलवार एक साथ धारण करनेवाले क्षुद्रक और मालव रावीके तटपर थे।

वाचिका—सिकन्दरका समान संकट सिरपर आया देख उन्हीं क्षुद्रक-मालवोंके सम्मिलित अधिवेशनमें—

समवेत स्वर—मालव गणकी जय ! क्षुद्रक गणकी जय ! मालव-क्षुद्रक संघकी जय !

[**शङ्खोंकी आवाज़**]

संघराज—गणोंके प्रतिनिधियो, पंचनद यवनोंसे आक्रान्त है, कुभूसे विपाशा तक शत्रुकी छाया डोल रही है। क्या आज भी क्षुद्रकों और मालवोंका पुराना वैर बना रहेगा ? क्या आज इस समान संकटके सामने भी हम एका न कर सकेंगे ?

[**नेपथ्यमें, मिली-जुली आवाज़ें—सुनो ! सुनो !—अनेक स्वर एक साथ**]

मालव गणराज—मालवोंकी ओरसे वैर भाव मिटानेका शपथ मैं लेता हूँ। इस समान संकटमें शत्रुका हम एक साथ सामना करेंगे।

अनेक स्वर—मालव गणराजकी जय ! मालवोंकी जय !

क्षुद्रक गणराज—क्षुद्रकोंकी ओरसे मैं शपथ करता हूँ कि जब तक गणोंका शत्रु क्षितिजसे ओझल न हो जायगा तबतक क्षुद्रक प्रतिहिंसाकी आवाज़ अपने भीतर उठने न देंगे।

[**नेपथ्यमें, मिली-जुली आवाज़ें—अनेक स्वर एक साथ—क्षुद्रक गणराजकी जय ! क्षुद्रकोंकी जय !**]

संघराज—नहीं गणप्रतिनिधियो, नहीं। इस मौखिक शपथसे काम नहीं चलनेका। हज़ार सालोंसे चले आते वैरके दैत्यसे हमारा छुटकारा इस तरह नहीं होनेका। चाहता हूँ कि इस संकटके समय मालव और क्षुद्रक जो मिलें तो सदाके लिए एक हो जायँ। चाहता हूँ कि दस हज़ार मालव युवक दस हज़ार क्षुद्रक युवतियोंको वरें और दस हज़ार क्षुद्रक तरुण दस हज़ार मालव तरुणियोंके कर गहें। कौन हैं भला वे मालव और क्षुद्रक तरुण जो पुराना वैर भुलाकर गणोंके इस गुहारको पालेंगे ?

[नेपथ्यमें, अनेकानेक आवाजें एक साथ—हम पालेंगें ! हम पालेंगे ! तलवारें खनकनेकी आवाजें, पैरोंकी आवाजें, नदीकी कलकल—बीच-बीच ।]

संघराज—बन्धुओ, रावीके तटपर की हुई हमारी यह प्रतिज्ञा मिथ्या न होने पाये । अपनी इस पुण्य सलिला माताके जलको स्पर्श कर हम शपथ करें कि विदेशियोंको उसकी घाटीमें, उसकी मिट्टीपर, प्राण रहते हम टिकने न देंगे ।

[नेपथ्यमें—बहते जलकी आवाज, बहुतसे लोगोंका एक साथ जल उठाना—मालवोंकी जय ! क्षुद्रकोंकी जय ! मालव-क्षुद्रकोंकी जय ! गगनभेदी ध्वनि । शस्त्रोंकी झंकार ।]

पाँचवाँ दृश्य

वाचक—और जब सिकन्दरकी फ़ौजें व्याससे लौटती हुई रावी और चुनाव के सङ्गमके दक्खिन मालव-क्षुद्रकोंके जनपदको ओर चलीं तब मालव और क्षुद्रक किसान भरे खेतोंके बीच हँसिये फेंक तलवारें सम्हालते गाँवोंकी ओर दौड़े, सीमाकी ओर जहाँ अपमानकी चोटसे खिझे संसारके विजेता ज़िन्दगीकी बाजी लगा बैठे थे—

[नेपथ्यमें—घोड़ोंकी हिनहिनाहट, जख़्मी सैनिकोंकी कराह, योद्धाओंका हुंकार, हाथियोंकी चिग्घाड़ ।]

सिकन्दर—सेल्यूकस, बिथीनियाँके वीर देखे, मिस्रके लड़ाके, पारदके बाँके देखे, बाख्त्रीके योद्धा, पर आज जो देखा वह कभी न देखा !

सेल्यूकस—सही, सिकन्दर, बेसिखे किसानोंका इस तरह मैदान लेना तो न देखा न सुना, और जो कहीं विजेताने उन्हींको उनके मुँहमें झोंक लोहासे लोहा न काटा होता तो, जिउकी शपथ, रावी हमारी समाधि बन गई होती ।

सिकन्दर—इनके जैसे मनुज तो, सेल्यूकस, कहीं न देखे, न मकदूनियाँमें, न एथेन्समें, न स्पार्तामें ।

सेल्यूकस—और इन अराजक जातियोंका शासन भी अपने ग्रीक नगर-राज्योंका-सा ही लगता है । उनका न कोई राजा है, न सम्राट्, बस मुखिया हैं जो जनपदोंकी सम्हाल करते हैं ।

सिकन्दर—सोचता हूँ, सेल्यूकस, जो यह पौरव न होता, जो जानसे मजबूर किये हराये कबीले न होते तो मकदूनियाँका सितारा तो आज डूब ही चुका था, फ़िलिप और क्लियोपात्राका नाम-लेवा भला आज कौन होता ? कौन अरस्तूकी उम्मीदोंको साकार बनाता ? क्या होता मेरी आशाओंका, मात्र जिनका आँचल पकड़ मैं देश-देश फिरता रहा हूँ, आवारा, जैसा उस साधुने कहा था, साम्राज्यका एक छोर दबाता दूसरा अम्बरमें उठाता—

सेल्यूकस—सही, सिकन्दर, पर अब उसका अफ़सोस क्या ? इस देशकी दुनिया भी सर हो गई—कठोंकी आज़ादीपर पौरव हावी है, अरट्टोंकी आज़ादीपर क्रातेरसकी तलवार झूल रही है, मालवोंके घमण्डपर परदिकसका सौजन्य विहँसता है । परेशानी क्या है ?

सिकन्दर—परेशानीकी एक ही पूछी, सेल्यूकस ! आम्भी और पौरव, कठ और अरट्ट, मालव और क्षुद्रक—एक आज़ाद हुए बग़ैर न रहेगा। भारत ईरान नहीं है, विथूनियाँ और मिस्र नहीं है, जिनपर आज ग्रीकोंका चँवर डोलता है । पर छोड़ो, जो सम्हाला न जा सके उसकी चिन्ता क्या ?

[**सैनिकका प्रवेश**]

सैनिक—विजेता, क्षुद्रकोंके सौ प्रतिनिधि आ गये हैं, भेंटकी अनन्त वस्तुएँ लिये हुए, विजेताके प्रसादके याचक हैं ।

सिकन्दर—सेल्यूकस, जाओ आदरसे उन्हें भेंटो। उनका ऐसा सत्कार करो कि वे अपनी पराजय भूल जायँ । देवताओंकी नस्ल हैं ये क्षुद्रक,

ये कारचोबीके कुर्ते पहननेवाले, पुरसे-पुरसे भरके जवान, रूपमें अपोलोको लजा देनेवाले। जाओ, उनका स्वागत करो।

[प्रस्थान]

वाचक—सिकन्दरका दरबार लगा है, स्वर्ण और क़ीमती वस्त्र क्षुद्रकोंके प्रतिनिधि उसे भेंट कर रहे हैं। साड़ों और बैलोंके जोड़े, घोड़ों और सुन्दर भेड़ोंकी पंक्तियां, मैदानमें भेंटमें आई हुई खड़ी हैं। और सिकन्दर अपनी जीतका वैभव पुलकित देख रहा है।

सिकन्दर—दूतराज, क्षुद्रकोंको मैं शत्रु नहीं मानता, न अपनेको मैं उनका विजेता मानता हूँ।

दूत—विजेताकी यह उदारता है जो वह क्षुद्रकोंको शत्रु नहीं मानता, अपनेको उनका विजेता नहीं मानता। पर बात यह बदलती नहीं कि आप विजेता हो, क्षुद्रक हारे हुए हैं। हाँ, उस हारका एक राज़ ज़रूर है।

सिकन्दर—वह क्या, मेरे मित्र ?

दूत—कि क्षुद्रक कायर नहीं हैं, शौर्यकी उनमें कमी नहीं। बात बस इतनी है कि उनका दैव उनसे रूठ गया है, और कि वे फिर लड़ेंगे, फिर-फिर लड़ेंगे। पर अभी तो विजेता यह हमारी भेंट स्वीकार करें, हमारी अराजक सत्ताके साथ उदारतासे व्यवहार करें।

सिकन्दर—जाओ दूतराज, स्वच्छन्द हो, तुम्हारे राष्ट्रको कोई जीत न सकेगा। ज़मीन जीती जाती है, मैदान जीते जाते हैं, पर आदमी नहीं जीता जाता, आज़ाद दिलोंपर हुक़ूमत नहीं होती। जाओ, तुम्हारी यह उदार भेंट हम मित्रवत् स्वीकार करते हैं। और तुम्हारे देवप्रतिम मित्रोंकी राह अकण्टक हो !

[**प्रस्थान—दूर जाते हुए घोड़ोंकी टापोंकी आवाज़**]

छठाँ दृश्य

वाचक—सिन्धके जनपदोंकी आज़ादी भी मिट गई। शिवि और मुषिक पराभूत हो गये। ग्रीकोंका झंडा वहाँ भी फहराया। पर बग़ावत-के झण्डे एकाएक गाँव-गाँवमें खड़े होने लगे, सिकन्दरको गाँव-गाँव लौट बाग़ियोंका सामना करना पड़ा। जब उसने जाना कि विद्रोह फैलाने वाले ब्राह्मण और ऋषि हैं तब उसने एक दिन उनके मुखियोंको पकड़ लिया। उनका न्याय शुरू हुआ।

सिकन्दर—[**साधुओंसे**] प्राणदण्डके अधिकारी हो, पर सुना है हाज़िर-जवाब बड़े हो, सो उसका सबूत देना होगा। तुममेसे एक न्यायाधीश बनेगा बक़ीयोंसे मैं एक-एक सवाल करूँगा और जिस ख़ूबीका जो जवाब होगा उसीके मुताबिक पहले-पीछे तुम सबको प्राणदण्ड भी मिलेगा। और उस ख़ूबीका निर्णय न्यायाधीश करेगा।

वाचक—नगे मुसकराते साधु चुपचाप सुनते रहे, सिकन्दरके सवालोंके इन्तज़ारमें उसकी ओर देखते रहे।

सिकन्दर—[**एकसे**] तुम्हारे विचारमे जीवितोंकी संख्या अधिक है या मरे हुओं की ?

पहला साधु—जीवितोंकी, क्योंकि मरे हुए मरकर फिर नहीं रहते।

सिकन्दर—[**दूसरेसे**] जीव समुन्दरमें ज़्यादा है या ज़मीनपर ?

दूसरा साधु—ज़मीनपर, क्योंकि समुन्दर ज़मीनका ही एक हिस्सा है।

सिकन्दर—[**तीसरेसे**] जानवरोंमे सबसे बुद्धिमान कौन है ?

तीसरा साधु—[**हँसकर**] वह जिसका पता मनुष्य अभी नहीं लगा पाया और जो उसकी नज़रोंसे ओझल, चंगुलके बाहर है।

सिकन्दर—[**चौथेसे**] तुमने शम्भुको बग़ावतके लिए क्यों उकसाया।

चौथा साधु—क्योंकि मैं चाहता था कि अगर वह जिये तो इज्ज़तके साथ और मरे तो इज्ज़तके साथ।

सिकन्दर— [**पाँचवेंसे**] पहले कौन बनाया गया, दिन या रात ?

पाँचवाँ साधु—दिन पहले बना, रातसे एक दिन पहले !

सिकन्दर— [**गुस्सेसे**] क्या मतलब ?

साधु—मतलब कि असम्भव सवालोंका जवाब भी असम्भव होता है ।

सिकन्दर—[**छठेसे**] मनुष्य किस प्रकार दुनियाका प्यारा हो सकता है ?

छठा साधु—बहुत ताक़तवर, पर साथ ही प्रजाका प्यारा होकर, जिससे प्रजा डरे नहीं ।

सिकन्दर—[**सातवेंसे**] मनुष्य देवता कैसे बन सकता है ?

सातवाँ साधु—अमनुजकर्मा होकर ।

सिकन्दर—[**आठवेंसे**] जीवन और मृत्यु दोनोंमें अधिक बलवान कौन है ?

आठवाँ साधु—जीवन, क्योंकि वह भयानक-से-भयानक तक़लीफ बरदाश्त कर सकता है ।

सिकन्दर—[**नवेंसे**] कबतक जीना इज़्ज़तसे जीना है ?

नवाँ साधु—जब तक मनुष्य यह न सोचने लगे कि अब जीनेसे मर जाना अच्छा है ।

सिकन्दर—[**न्यायाधीशकी ओर फिरकर**]—अब तुम मुझे बताओ कि किसका जवाब सबसे ज़्यादा चुस्त है, कि उसे पहले प्राणदण्ड दे सकूँ ।

साधु—जवाब एक-से-एक बढ़कर है ।

सिकन्दर—[**खीझकर**] तब सबसे पहले तुम्हीं मरोगे !

[**सहसा ग्रीक दार्शनिकोंका प्रवेश**]

ग्रीक दार्शनिक—[**एक साथ**] नहीं, नहीं, विजेता, अन्याय न करो । अब बारी तुम्हारी है जो बताये कि एक-से-एक बढ़कर जवाबोंमें सचमुच बढ़कर कौन है ? असलमें जवाब इसका अब इन साधुओं-की आज़ादी है, इन्हें छोड़ दो ।

सिकन्दर—[**हँसता हुआ**] जाओ, साधुओ, तुम आज़ाद हो। तुम्हारी निर्भीकताकी पहले बस कहानी ही सुनी थी, आज उसे अपनी आँखों देखा !

[**प्रस्थान**]

सातवाँ दृश्य

वाचक—यौधेयोंके जलते हुए गाँव, जलती हुई खेती, गाँवके बाहर मैदानोंमें जूझते हुए यौधेय, कोटके भीतर दीवारोंपर चढ़े धनुष ताने वीर, नीचेसे उन्हें तीर थमाती नारियाँ—

समरशतवितत विजयी समुद्रगुप्तकी सेनाएँ पहुँचा ही चाहती है, झाड़खण्डके यौधेयोंके गाँव उजड़ते जा रहे हैं—

बेटा—जा-जा, लीक-लीक चली जा। गाडियाँ अभी कुछ ही दूर गई होगीं।

माँ—चुप कर, बड़ा आया गाड़ियोंकी लीक बतानेवाला—तेरे दादाको इन्हीं मैदानोंमें जूझते देखा था, बाप तेरा अभी कल ही खेत रहा है, तू भी अमरपथका सैलानी बना, मेरा बचा बेटा, और मैं गाड़ियोंकी लीक पकड़ूँ ! तू जा अपनी राह। मैं गाँवकी ओर चली।

बेटा—माँ, मेरी प्यारी माँ, न जा गाँवकी ओर तू। आग जल रही है, हाहाकार मचा हुआ है, इन दिग्विजयोंने मनुजकी ऊँची काया ठिगनी कर दी।

माँ—तू अपनी राह ले, बेटे, रणकी ओर जा, मैं तो गाँव-गाँव जाऊँगी और अपने जूझे सपूतोंकी राख इनकी गमकती मिट्टीमें ढूँढ़ूँगी। एक गाँव खड़ा न रहेगा, न एक खेत खड़ा रहेगा—न आततायी सेनाओंको आहार मिलेगा और न उनके घोड़ोंको चारा।

[**धनुष-बाण लिये एक बूढ़ेका दल-बल सहित प्रवेश**]

वृद्ध—शाबाश देवि! यौधेयोंने गावोंकी बस्ती कुछ आज नयी नहीं बसायी। सदियोंसे उनके गाँव बसते और उजड़ते चले आ रहे हैं। आज़ादी का जीवन आरामका नहीं, शंकाका है और जब-जब आज़ादीपर उसकी चीलोंने झपट्टा मारा है उसके बाँकोंको दर-दरकी धूल छाननी पड़ी है। सिन्धुसे पञ्चनद, पञ्चनदसे मरुभूमि और झाड़खण्ड, और अब न जाने कहाँका दानापानी होगा।

माँ—इसी कारण खड़े गाँवको छोड़ जाना पाप होगा। हमें मालवोंकी राह जाना है, आर्जुनायनों सनकानीकोंकी राह, अरट्टों अग्र-श्रेणियोंकी राह। मौर्योंकी चोटसे आज़ादीके दीवाने मालव अवन्ती जा बसे, हमारे भी उखड़े पाँव कहीं रुकके ही रहेंगे। जाओ, तुम अपनी राह जाओ, मेरे बेटेको भी साथ ले लो। विदा, बेटे, विदा!

बेटा—चला, माँ, रणमें मरकर अमर होने, क्योंकि दिग्विजयी सम्राटोंकी परम्परा आज़ाद जातियोंको लीलकर रहेगी।

[**माँ-बेटेका प्रस्थान**]

वृद्ध—पहचाना नहीं मुझे उसने, निकल गया रावतका बेटा, रणमें जूझने। मालवों सनकानीकोंकी राह गया वह, आयुधजीवी यौधेयोंकी राह।

एक युवक—गुरुवर, शास्त्रकी जगह शस्त्र धारण करनेवाले ऋषिवरको भला सैनिक कैसे पहचाने? हम स्वयं जो इस वेशमें अचानक देख लेते तो क्या पहचान पाते?

[**यौधेयोंके वृद्ध पुरोहितका प्रवेश**]

पुरोहित—[**वृद्धको पहचानकर**]—अरे आप इस वेशमें!

वृद्ध—राष्ट्रकी रक्षामें यही वेश वांछनीय है। परशुरामको विवश होकर ही परशु धारण करना पड़ा था।

पुरोहित—सम्राटोंकी महत्त्वाकांक्षा जो न करा दे !

वृद्ध—वे सम्राट् मिट गये जिन्होंने दिग्विजयके बाद कहा—"भारत मेरा है।" आज राघव राम और उनके साम्राज्यकी स्मृति भी धुँधली हो चली है, समुद्रगुप्त जिस यशःकायाका निर्माण राष्ट्रोंको रौंदकर आज करने चला है वह भी कल धूमिल हो जायगी। ऐश्वर्यको धिक्कार है ! साम्राज्यको धिक्कार है।

[**प्रस्थान**]

आठवाँ दृश्य

वाचक—

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां
सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं
कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥

चारों समुद्र जिसकी मेखला हैं, सुमेरु और कैलास जिसके पयोधर हैं, खिले फूलोंसे भरे वनान्तों और उपत्यकाओंसे जो हँसती रहती है, ऐसी पृथ्वीपर जब सम्राट् कुमारगुप्तका शासन था—

वाचिका—तब नर्मदा तीरके पुष्यमित्रोंने अपने धन-जनकी शक्तिसे गुप्त-साम्राज्यको ख़तरेमें डाल दिया था, गुप्तोंकी कुललक्ष्मी विचलित कर दी थी। विलासी सम्राट्का ऐश्वर्य तब उसकी प्रेयसियोंकी छायामें पलने लगा था। पुष्यमित्रोंसे युद्ध करता युवराज स्कन्दगुप्त रातें रणक्षेत्रमें रूखी धरतीपर सोकर बिताने लगा था, तभी—

स्कन्दगुप्त—यह युद्ध नहीं हो सकता, आर्य।

गोविन्दगुप्त—सच, नहीं हो सकनेका यह युद्ध। धार्मिकोंका धर्मसे कहीं युद्ध होता है ?

स्कन्दगुप्त—जहाँ बाल-वृद्ध, नर-नारी अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए सन्नद्ध हैं, जहाँ राष्ट्रका समूचा धन राष्ट्रकी रक्षाके लिए जन-जन लुटा रहा है, वहाँ युद्ध पाप है। आर्य, वे अपनी आज़ादीकी रक्षाके लिए लड़ रहे हैं, हम अपने साम्राज्यकी सीमाएँ बढ़ानेके लिए। धिक्कार है इस अर्थलोलुपताको ! कुन्तल !

कुन्तल—कुमार।

स्कन्द०—लाओ बन्दीको।

कुन्तल—जो आज्ञा, देव।

[**प्रस्थान और बन्दीके साथ प्रवेश**]

स्कन्द—सैनिको, छोड़ दो बन्दीको।

बन्दी—यह क्या, युवराज ? शत्रुपर यह अनुग्रह कैसा, जब पुष्यमित्रोंने साम्राज्यको ख़तरेमें डाल दिया है ? गुप्तोंने निवृत्तिका मार्ग कबसे अपनाया ?

स्कन्द—परिहास न करो, गणसेनापति। तुम्हारी मुक्तिका कारण मैं हूँ, साम्राज्यका सचिवालय नहीं, सम्राट्की अभियान-नीति नहीं।

ग०से०—पर इससे क्या यह समझूँ कि दिवंगत समुद्रगुप्तकी नीतिसे युवराजने अवकाश ले लिया ?

स्कन्द०—नहीं, सेनापति, सो नहीं। सम्भवतः उस नीतिका पालन राजाओं, आक्रान्ताओंके विरुद्ध मुझे आगे भी करना ही होगा। पर लगता है पुष्यमित्रोंसे युद्ध अपनेसे युद्ध करना है, आत्मघात है। जाओ, तुम अपनी सीमाओंको सम्हालो, साम्राज्य दक्षिणमें नर्मदा पार पग न धरेगा।

ग० से०—पुष्यमित्रोंके मुखिया और कहते क्या रहे हैं, युवराज ? साम्राज्यकी सीमाओंका अतिक्रमण तो उन्होंने लोहेका उत्तर लोहेसे देनेके लिए वस्तुतः अपनी रक्षामें किया है। वरना उन्हें मगधसे झगड़ा ही किस बातका है ? पर हाँ, युवराज, उस हृदयकी विशालताका कुछ आभास आज मिला जिसके यशके गीत ईख और धानके खेतोंमें कन्याएँ गाती हैं।

स्कन्द०—कृतज्ञ हूँ, सेनापति। जाओ, साम्राज्यके सैनिक मेरे रहते आगे नर्मदा पार न करेंगे। [**गोविन्दगुप्तसे**] क्यों, आर्य, इस घोषणाकी अनुमति है ?

गोविन्द०—निश्चय, वत्स। दर्शन तुम्हारा समुचित है। यह लोक-निग्रह है, नीतिमान राजाका धर्म। आश्वरत हूँ कि उसका पालन कर रहे हो। धरा तुम्हारे शासनमें निःसन्देह राजन्वती होगी। चलो, अब इस महाकान्तारसे निकलो, कुसुमपुर चलो।

स्कन्द०—चलें आर्य, कुसुमपुर चलें। पर कौशाम्बीका जनपद, प्रायः समूचा अन्तर्वेद, भयसे आक्रान्त है। हूणोंका म्लेच्छ पदाघात देवभूमिपर होने ही वाला है। छीजे बलके अवशेषको भारतभूमिकी रक्षामें ही उत्सर्ग करें।

ग० से०—क्षमा, युवराज। बस एक शब्द। यदि उस दिशामें प्रयास करें तो इस कृतज्ञ मित्रको न भूलें, और जानें कि पुष्यमित्रोंका जन-जन देशकी रक्षाके हित सन्नद्ध रहेगा।

[**प्रस्थान**]

वाचक—और सदियाँ बीत गई। आक्रमणपर आक्रमण होते गये। यह धरा एक आक्रान्ताके चंगुलसे छूट दूसरेके चंगुलमे समाती गई। फिर हमारे लोकतन्त्रके नये मान सिरज चले।

वाचिका—और एक दिन बलिदानोंकी इस भूमिपर, बलिदानों भरे आन्दोलनोंके बाद, रक्तसे युग-युग नहाई दिल्लीमे अपनी लोकसभाने जन्म लिया। १५ अगस्त सन् १९४७ की रात भारतने नया जन्म लिया, हमारा गणतन्त्र अहिंसा और शान्तिके संबल लिये जनतन्त्रोंके राजमार्गपर खड़ा हुआ—

न राज्यं कामये राजन् न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

नारी

अङ्क—१ । दृश्य—१

[आजसे प्रायः बीस हज़ार साल पहले । कन्दराके द्वारपर नारी खड़ी है, लगभग नंगी । क्रोधसे उसके नथुने फूल रहे हैं, सिरके बाल हवामें उड़ रहे हैं, वैसे ही नाक और बग़लोंके भी । शरीर रोमोंसे भरा है । शिराव्यंजित कन्धे और गठी भुजाएँ हिल रही हैं । एक पैर भूमिपर है दूसरा चट्टानपर टिका है । थोड़ी दूरपर दो युवा एक अधेड़ नरको नारीकी आज्ञासे पीट रहे हैं । चोटोंसे भरा वह गिड़गिड़ा रहा है । नारीका क्रोध शान्त नहीं होता ।]

नारी—और मार, मार इसे चीतल [**मारकी आवाज़**], मार महिष, इस चोरको ।

[**महिष लात-घूसोंसे उसे मारता है ।**]

नर—[**गिड़गिड़ाता-रोता**] अब नहीं, अब न मार, ज़ालिम । बस एक बार और छोड़ दे, एक बार ।

नारी—मार चिती, और मार, इस झूठेको । चोर कहींके ! मैं शिकारको गई और यह मेरी दुश्मनकी माँदमें जा धँसा, यह चोर । दे इसे और ! आज ज़िन्दा न छोड़ूँगी । मैंने ख़ुद इसे तालकी चट्टानोंके पीछे मितासे चिमटते देखा था । लगा, चीतल, दो हाथ और इसके, रुक क्यों गया, पाजी ?

[**मारनेकी आवाज़**]

नर—नहीं, नहीं, अब दया कर । दया कर, फिर कभी तेरी छाया नहीं छोड़ूँगा, मिनी ! बस एक बार और माफ़ कर दे, छोड़ दे । तेरे तलवोंके काँटे चुनता दिन काट लूँगा । छोड़ दे ।

नारी—[**चट्टानपरसे पाँव हटाते हुए**] अच्छा, छोड़ दे चीतल। छोड़ दे महिष। एक बार फिर छोड़ देती हूँ। [**छोड़ देते हैं**] पर देख मुरल, अब फिर जो मैंने तुझे मिताके पास पाया तो बस याद रख, सुअरके साथ-साथ तुझे भी भून डालूँगी। जा, अब आँखोंके सामनेसे! [**मुरल गिड़गिड़ाता, लड़खड़ाता, चोटसे व्याकुल चला जाता है**]

नारी [**चीतल और महिषसे**] देखा, मेरा कोप! खबरदार जो कभी इसका तौर सीखा! उँगलियोंमे एक नाख़ून नहीं रहने दूँगी।

[**दोनों चुपचाप सिर झुका लेते हैं। नारी धीरे-धीरे उनके पास जाती है, हाथसे दोनोंको परसती है, उनके थूथनोंपर बारी-बारीसे अपना थूथन रखती है। उनकी पीठ ठोंकती है। दोनों प्रसन्न चले जाते हैं।**]

[**प्रस्थान**]

दृश्य २

[**गुफाके द्वारपर आग जल रही है। जंगली जानवर आते हैं और लपटोंके डरसे दूरसे ही झाँककर चले जाते हैं। चीतल और महिष थोड़ी-थोड़ी देरपर आगमें लकड़ी डाल दिया करते हैं। गुफामें एक ओर मिनी और मुरल एक दूसरेके पाशमें बँधे पड़े हैं। दोनों हल्के-हल्के बात कर रहे हैं। दोनों रह-रहकर एक दूसरेको चाट लेते हैं।**]

मिनी—मुरल, तू मुझसे नाराज़ है? दुखी है? [**उसे चाटने लगती है**]

मुरल—आज तूने मुझे बहुत मार लगवायी, मिनी। मेरा जोड़-जोड़ फटा जा रहा है। जा, तू जा!

मिनी—फिर तू चोरी क्यों करता है ? क्यों उस हिरनमुँहीके पास जाता है ? क्यों उसे पीठपर चढ़ाकर नाचता है ? उसे चाटता है ? अब ऐसा न करना, भला ?

मुरल—अब करूँगा तो तू जान छोड़ेगी ? आह ! [**उच्छ्वास, दीर्घ उच्छ्वास**]

मिनी—अच्छा यह क्या ? मिताकी याद भूल जा वरना देखता है न वे आगकी लपटें ? भूल गया दिनकी मार ?

मुरल—[**काँप जाता है**] नहीं, नहीं, यह मिताकी याद नहीं है मिनी। सच कहता हूँ मिनी।

मिनी—[**आँखे तरेरकर**] अच्छा, दे सबूत फिर इसका। उठ, निकल।

मुरल—[**काँपता हुआ**] क्या करूँ ?

मिनी—उठा मशाल, उठा हथौड़ा। चला जा मितीकी गुफामें। तोड़ ला उसका सिर। मुझे उसका सिर चाहिए, जा।

मुरल—मिनी !

मिनी—[**आँखें तरेरकर**] जाता है या नहीं ? चीतल, महिष !

मुरल—[**काँपता हुआ**] जाता हूँ, जाता हूँ। [**लड़खड़ाता हुआ उठता है, एक हाथमें हथौड़ा दूसरेमें मशाल लेता है। चला जाता है।**]

मिनी—[**धीरे-धीरे**] आदमीकी औलाद ! कायर !

[**और चीतलको खींचकर गोदमें दुबका लेती है। महिष आग सम्हालता रहता है।**]

अङ्क—२ । दृश्य १

[दस हज़ार साल बाद । जनका गाँव लूट चुका है । मर्द फरसोंके घाट उतारे जा चुके हैं । बूढ़े आगकी लपटोंके सुपुर्द हो चुके हैं । औरतें एक ओर बँधी पड़ी हैं । विजेता सरदार अपने योद्धाओंके साथ आता है, नारियोंको बाँटता है ।]

सरदार—आह, क्या रूप है ! भेजो इसे मेरे कोटमें, और उसे भी । और वह उस कुन्तल केशिनीको भी, जैसे दूधसे नहाकर निकली है ! और देख, कुरग, उसे तू ले ले, उस मृगाक्षीको । देखता है न, उसकी भवोंका बंक ?

कुरग—सौभाग्य, सरदार !

सरदार—गयन्द !

गयन्द—स्वामी !

सरदार—इधर क्या देखता है, उधर देख, उस पिंगलाको । ले ले, और देख, जोगाकर रखना, मन लपका जा रहा है ।

गयन्द—ले लें, सरदार ! कोटमें इसे भी रख लें ।

सरदार—नहीं, तेरी जीतकी उपहार है, वहाँ घमासानके बीच देखा था, तेरी भुजासे लटक गई थी । तुझे वर लिया है उसने ।

गयन्द—अच्छा, स्वामी, जोगाकर रखूँगा, जब चाहो, पधारो ।

दृश्य २

सरदार—यह कपिला किसकी है ?

कोरक—मेरी, पिता । आपने ही तो दी थी ।

सरदार—बड़े भाग्यवान् हो ! उसकी आँखोंमें तो जैसे सिन्धु उमड़ा पड़ता है । आज रात उसे मेरे द्वार भेजना ।

कोरक—जैसी आज्ञा, पिता ।

सरदार—और वह कौन है, वह कजरारी आँखों वाली, जो केशोंका जल निचोड़ रही है ?

कोरक—वह भाईकी है ।

सरदार—तुन्दिलकी ? [**हँसता है**] तुन्दिलका उस तन्त्रीको क्या सुख ? कहना उससे, कल वही मेरी परिचर्या करेगी ।

[**दोनोंका प्रस्थान**]

[**कपिला और कजरीका प्रवेश, चरखा कातते हुए**]

कपिला—सुना, बहिन ?

कजरी—क्या, बहिन ?

कपिला—आज मुझे पिताके द्वार जाना है ।

कजरी—सुना । कल मुझे भी वहीं सेवा करनी है ।

कपिला—यह नारीका जीवन क्या है, सखि ?

कजरी—हाँ, बहिन, मनचीतेका साया भी हट जाता है । मेरा तुन्दिल तो तड़प जायेगा ।

कपिला—मेरा कोरक रो रहा था, सखि । पर कोई उपाय नहीं है । पुरुषकी इच्छापर ही अपना जीवन निर्भर करता है । उसकी सेवा और सन्तान !

कजरी—[**आँखें पोंछती हुई**] देखें, अब वहाँसे लौट भी पाते है या नहीं !

अंक—२ । दृश्य—१

[**चार हज़ार साल पहले । वैदिक कालमें । विवाह प्रथाके पूर्व । ऋषि पढ़ा रहा है, ब्रह्मचारी पढ़ रहे हैं । ऋषिपत्नी सोमवल्ली कूट रही है । दूसरा ऋषि आता है, ऋषिपत्नीका हाथ पकड़ एक ओर चला जाता है । ऋषिकुमार तमतमाकर खड़ा हो जाता है ।**]

कुमार—अनाचार, प्रभो !

ऋषि—बैठो। बैठ जाओ। मन्त्र कहो।

कुमार—आश्रममें पाप प्रगटा है, पिता। मन्त्र अपावन हो जायगा।

ऋषि—कैसा पाप, कुमार ? अपचार कैसा ?

कुमार—पाप, पिता, अपनी इन्हीं आँखों देखा था, यही मुनि आया था और माता हँसती हुई इसके साथ चली गयी थी ! मैंने पीछा किया था। पिता, सब अपनी आँखों देखा था।

ऋषि—मूर्ख, वह पाप नहीं, सनातन नियम है। नारी क्षेत्र है, क्षेत्र एकका नहीं होता, सार्वजनिक होता है, गोचर भूमिकी तरह।

कुमार—नहीं, पिता। यह नियम चाहे कितना भी सनातन क्यों न हो, टूटेगा। मैं इसे तोड़कर रहूँगा। इस पशुजीवनका समाधान बस एक क्रिया है—विवाह, आवाह ! चला अब इसके प्रचारके हित। रखो तुम अपना यह मन्त्र-याग। विदा !

[**मस्तक झुकाकर चल देता है**]

दृश्य—२

[**इन्द्राणी और वाक् बैठी बातें कर रही हैं। शालीन शचीके किरीटसे उसकी कुंतल-कचराशि निकलकर दोनों ओर लहरा रही है। रह-रहकर उसके स्वर्ण कुण्डल केशोंके बीच दमक जाते हैं। वाक्की कुटिल भँवें उसके संयत सौंदर्यसे जैसे लुब्धक भौंरोंको सचेत कर रही हैं।**]

इन्द्राणी—अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्राविवाचिनी !—आज मेरी ध्वजा फहरा रही है, मेरी आज्ञा अनुल्लंघनीय है, मेरी गरिमाकी देवगण सौगन्ध खाते हैं !

वाक्—पौलोमीकी शक्ति निस्सन्देह प्रबल है। इन्द्रका पौरुष महान् है।

इन्द्राणी—मेरी कन्याएँ रानियाँ हैं, मेरे पुत्र शक्तिमान हैं। मैं अजेय हूँ। इन्द्रका पौरुष मेरी हविसे शक्ति पाता है। मेरी सपत्नियाँ ध्वस्त हो चुकी हैं।

वाक्—सपत्नियाँ ! वही तो नारीकी विडम्बना है। वरना कैकेयीने रथकी धुरी धारण की है, मुद्गलाने लौहकी रानें धारण की हैं। पर रथ वह पतिका है, मैदान वह स्वामीका है।

इंद्राणी—जनेऊ धारणकर यज्ञमें नारी बैठती है, मैं स्वयं हविमें भाग पाती हूँ, यज्ञका संचालन करती हूँ।

वाक्—सही, पर अर्द्धाङ्गिनी रूपमें, पतिके अभावमें नहीं, अपने अधिकारसे नहीं। इन्द्रको हटा दो, अपने गौरवको गुनो फिर !

[**इन्द्राणीका क्षुब्ध प्रस्थान। सूर्याका प्रवेश**]

वाक्—स्वागत, सूर्ये ! सोमकी अकशायिनि, पधारो !

सूर्या—अभिवादन, वागम्भृणि। आई नहीं यज्ञमे !

वाक्—नहीं आ सकी, सूर्ये, उस निरर्थक यज्ञमें !

सूर्या—विवाह-यज्ञ निरर्थक, देवि ? सुना नहीं वह आशीर्वचन ?

वाक्—सुना वह पुरोधाका आशीर्वचन, सूर्ये, सुना—ससुरकी सम्राज्ञी बन, सासकी सम्राज्ञी बन, देवरों-नन्दोंकी सम्राज्ञी बन, दोपायों-चौपायोंकी सम्राज्ञी बन, उपस्थित जनोंको आदेश कर ! सुना, सब सुना। इन सबकी सम्राज्ञीके ऊपर सम्राट्का अंकुश है, अनुल्लंघनीय अनुशासन। भोगो उसे, सूर्ये, अविकल भोगो !

सूर्या—मुनिकन्ये, व्यंग न करो। कौमार्यको कुण्ठित न करो। कोरककी परिणति कोष खोलकर मकरन्द लुटा देनेमें है !

वाक्—सही, पर उसकी शालीनता अपने सौरभका स्वामी दूसरेको बना देनेमें भी नहीं है। मैं तो अपनी सत्ताकी पोषिणी हूँ—अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवाऊ—रुद्रका धनुष धारण करती हूँ कि ब्रह्मद्वेषियोंका दलन कर सकूँ। सेनाओंको रणभूमिमें खींच

लाती हूँ कि संमर्दसे दिशाएँ काँप उठें। सूर्यको आकाशकी मूर्धा पर घसीट लाती हूँ कि धरा तप उठे, हिम गल जाय, पंक सूख जाय, जीवन जग उठे !

सूर्या—लहको, एकाकिनि, डहो, अपने ही गौरवकी आँचमें ! चली मैं तो सोमकी शीतल छायामें, उसकी कौमुदी बन अन्तरिक्षमें उसका विस्तार करने। विदा !

[प्रस्थान। वाक् व्यंगभरी दृष्टिसे जाती हुई सूर्याको चुपचाप देखती रहती है।]

दृश्य—३

[उत्तर वैदिक काल। ब्राह्मण-उपनिषदोंका जीवन। मिथिलामें विदेह जनककी राजसभा। ज्ञान-संबंधी तर्क हो रहा है। सहस्त्र गौएँ सोनेसे मण्डित सींगों वाली विजेता ऋषिके लिए खड़ी झूम रही हैं। सब ऋषि याज्ञवल्क्यसे परास्त हो चुके हैं, केवल गार्गी जूझ रही है।]

गार्गी—मैं आपसे दो प्रश्न पूछती हूँ, भगवन्। यदि आपने मेरे इन प्रश्नोंके समुचित उत्तर दे दिये तो आपको इस ब्रह्मलोकमे कोई जीत न सकेगा।

याज्ञ०—पूछ गार्गी, वाचक्नवी पूछ।

गार्गी—यह जो ऊपर द्यौःमें, यह नीचे जो पृथ्वीपर, और यह जो द्यावा पृथ्वी दोनोंके बीच हुआ है (स्थित रहा है), है, या होनेवाला है वह किसमें ओत-प्रोत है ?

याज्ञ०—यह जो ऊपर द्यौःमें, गार्गी, यह नीचे जो पृथिवीपर, और यह जो द्यावा पृथ्वी दोनोंके बीच हुआ है, है, या होनेवाला है, वह आकाशमें ओत-प्रोत है।

गार्गी—नमस्कार है तुमको, याज्ञवल्क्य, अब यह दूसरा प्रश्न करती हूँ। धारण करो, सम्हालो, उत्तर दो।

याज्ञ०—पूछो, गार्गी, अपना प्रश्न।

[गार्गी पूछती है, याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं।]

गार्गी—ब्राह्मणो, याज्ञवल्क्यको नमस्कार करो, वही हम सबमें बहुमान्य हैं। छोड़ो उसे, वही इस ब्रह्मोद्यमें विजयी है।

[प्रस्थान]

दृश्य ४

[आश्रम। कुलपतिके समक्ष जाबाल करमें समिधा लिये ऋषि-कुमारोंके बीच खड़ा है।]

कुलपति—क्या नाम है? क्या वर्ण है, कुमार, तुम्हारा? क्या गोत्र है?

जाबाल—जाबाल, भगवान् 'समित्पाणी' होनेकी आज्ञा करें, विदग्ध-मार्गकी दीक्षा दें।

कुल०—वर्ण बोलो, कुमार, गोत्र बोलो!

जाबाल—नहीं जानता, भगवन्! पर समित्पाणी होनेकी भगवान् आज्ञा करें।

कुल०—कैसे समित्पाणी होनेकी आज्ञा करूँ, कैसे विदग्ध-मार्गमें दीक्षित करूँ? ब्रह्म-क्षत्र तक ही तो उनकी परिधि है। कैसे जानूँ, तू ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, इनसे परे है? जा, जननीसे पूछ।

[जाबाल नतमस्तक हो चला जाता है। जननीके चरण छू पूछता है।]

जाबाल—माँ, मेरा वर्ण क्या है, गोत्र क्या है, मेरा पिता कौन है? इनको विना जाने कुलपति समित्पाणी होनेकी आज्ञा कैसे करें, विदग्ध-मार्गकी दीक्षा कैसे दें?

माता—पुत्रक, कैसे बताऊँ ? मैं स्वयं भी तो नहीं जानती। तब मैं कुमारी थी, पिताके अतिथिसंकुल परिवारमें सत्कारार्थ प्रयुक्त एकमात्र दुहिता ! स्मरण नहीं उस रात किस महानुभावकी छाया इस क्षेत्रपर पड़ी, जिसके पुण्यके प्रताप स्वरूप तुम उदय हुए !

[**जाबाल नतमस्तक हो चुपचाप कुलपतिके निकट चला जाता है।**]

जाबाल—भगवन्, जननी मेरे पिताको नहीं जानती, मेरा वर्ण नहीं जानती, गोत्र नहीं जानती। पूछा तो उसने कहा—'पुत्रक, कैसे बताऊँ ? मैं स्वयं भी तो नहीं जानती। तब मैं कुमारी थी, पिता के अतिथिसंकुल परिवारमे सत्कारार्थ प्रयुक्त एक मात्र दुहिता ! स्मरण नहीं उस रात किस महानुभावकी छाया इस क्षेत्रपर पड़ी, जिसके पुण्यके प्रताप स्वरूप तुम उदय हुए !'

कुल०—तुमने माताके सत्य वचन ज्योंके त्यों कहे, जाबाल, निस्सन्देह ब्राह्मण हो तुम। 'सत्यकाम' तुम्हें आजसे कहूँगा। समित्पाणी हो, सत्यकाम जाबाल, विदग्ध-मार्गपर आरूढ़ हो, आओ !

[**समिधामें अग्नि लगा देता है। प्रस्थान**]

अंक-४ । दृश्य-१

[**तीन सौ साल बाद। सावत्थीके जेतवन बिहारमें तथागत बरसात बिता रहे हैं। आस-पास आनन्द आदि शिष्य बैठे हैं, सामने भिक्षु-संघ, गृहस्थ-उपासकका उपदेश समाप्त होता है। द्वारका भिक्षु आकर आनन्दके कानमें कुछ कहता है। आनन्द उसके साथ बाहर चला जाता है। द्वारपर बुद्धकी मौसी प्रजापती और आनन्द।**]

आनन्द—प्रसन्न हुआ, देवि। धन्य जो दर्शन पाये !

प्रजा०—निवेदन करो, भन्ते ! आज संघमें प्रवेश करके ही रहूँगी।

आनन्द—निवेदन करता हूँ, माता, अभी करता हूँ : सदा करता रहा हूँ, पर तथागत उदासीन हैं, नारीको प्रव्रज्या नहीं देंगे।

प्रजा०—आज मैं यहाँसे नहीं हिलनेकी, भन्ते। वर्षा-आँधी झेलती आयी हूँ, कपिलवस्तुसे। निवेदन करो—प्रजापती आज यहीं प्राणत्याग करेगी, सुगतने यदि अनुकम्पा न की, संघमें दीक्षित नहीं किया। निवेदन करो।

आनन्द—अभी, देवि, अभी निवेदन करता हूँ।

[**प्रस्थान; बुद्धके निकट जाकर चुपचाप खड़ा हो जाता है।**]

बुद्ध—बोलो, आनन्द, कुछ कहना इष्ट है ?

आनन्द—सुगत प्रसन्न हों !

बुद्ध—बोलो, आनन्द, नारीका पक्ष लेकर आये हो।

आनन्द—सत्य, सुगत प्रसन्न हों !

बुद्ध—नारी, आनन्द, जलमें तैरती मछलीकी भाँति अज्ञेय है। नारी दस्यु-सी प्रवञ्चिका है, कला-कुशला। सत्यसे वह दूर है। उसके लिए सत्य मिथ्या है, आनन्द, मिथ्या सत्य है।

आनन्द—पर यह तो महाप्रजापती है जो संघकी कामना करती है, जननी है, नारियोंमें देवी है, सुगतकी पालिका। प्रसन्न हों सुगत !

बुद्ध—सदासे महाप्रजापतीका पक्ष लेते रहे हो, आनन्द।

आनन्द—सुगत अनुकम्पा करें।

[**बुद्ध चुप हैं। आनन्द जानता है, बुद्ध स्वीकृति मौनसे देते हैं। प्रसन्न हो उठता है।**]

आनन्द—धन्य, सुगत, धन्य ! सुगत मौन हैं, सुगत प्रसन्न हैं !

बुद्ध—किन्तु सुनो, आनन्द—जैसे धानके खेतमें जब रोग फूट पड़ता है तब धानके खेतकी शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही, आनन्द, जब

नारियाँ सद्धर्ममें दीक्षित होंगी, प्रव्रजित होकर संघमें प्रवेश करेंगी तब पवित्र जीवन क्षीण हो जायेगा। तथागतके चलाये सद्धर्म और सघमें यदि नारी दीक्षित न होती, तब, आनन्द सद्धर्म सहस्र वर्ष तक जीवित रहता; किन्तु, आनन्द अब संघ दीर्घकाल तक जीवित न रह सकेगा, सद्धर्म केवल पाँच सौ वर्ष चलेगा!

[**मौन। आनन्दका प्रस्थान**]

दृश्य—२

१ **धर्माचार्य**—वर्ण-धर्म मिट गया, मनुकी व्यवस्था गतप्राय है। नया विधान होगा, मनुके अनुकूल ही।

२ **धर्माचार्य**—करो, मुनि, निश्चय करो वरना आर्यभूमि म्लेच्छोंसे आक्रान्त है। यवनोंने पार्थिवोंको नष्ट कर दिया है, प्रान्तोंको विच्छिन्न। शूद्र ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण शूद्र। वर्ण-धर्म मिट चला।

३-४ **धर्माचार्य** [**एक साथ**]—सत्य है, सत्य!

१ **धर्माचार्य**—बालविवाहकी मर्यादा स्थापित करो। पिता अपनी अनेक कन्याओंका पत्नी और पुत्रोंके साथ इस विप्लवमे रक्षा न कर सकेगा, केवल पति उसकी रक्षा कर सकेगा, इससे कन्याको शीघ्रातिशीघ्र पत्नी होने दो—अष्टवर्षा भवेद् गौरी—कल्याण तभी होगा। बोलो, मान्य है?

सभी [**एक साथ**]—मान्य है, आचार्य, मान्य है!

१ **धर्माचार्य**—बोलो, ब्राह्मण सम्राट् पुष्यमित्रकी जय!

सभी [**एक साथ**]—जय! सम्राट् पुष्यमित्रकी जय!

[**प्रस्थान**] **पटाक्षेप**

अंक-५ । दृश्य-१

[**पाँच सौ वर्ष बाद । गुप्तकाल । पाटलिपुत्रका प्रासाद । ध्रुव-स्वामिनी प्रसाधन कर रही है, दो दासियाँ उसकी सहायता कर रही हैं, तीसरी वीणाके स्वर लहरा रही है, एक ओर रंगासे भरी कटोरियाँ पड़ी हैं ।**]

ध्रुव०—वर्तिकाका रंग तनिक हल्की करले, मणि, आलता कुछ अधिक चढ़ गई है । होंठ मुझे गाढ़े लाल नहीं रुचते ।

मणि—कर ली है, देवि । लोध्र वरना, जानती हूँ, दब जायेगा ।

ध्रुव०—और माले ! तूलिका तनिक दबा कर चला । रोंगटे खड़े हुए जा रहे हैं । अंग-अंग सिहर उठा ।

[**माला स्तनोंपर राग-रेखाएँ खींच देती है, लाल रेखाओंके भीतर चंदनकी श्वेत रेखाएँ, वृत्ताकार, निरन्तर छोटे होते आते रेखावृत्त, बीचमें शिखरपर एकाकी धवल बिंदु ।**]

ध्रुव०—हाँ, तनिक हल्के, मणि । पर, देख अधरकी इस खड़ी अर्ध रेखाको तनिक और गहरी करदे । हाँ, देख अब चिबुककूपसे लहराती विशेषककी टहनियाँ अधरोंकी ललाईसे और दमक उठी हैं । ललाटकी भक्ति-रेखाएँ जहाँ कानोंके निकट उन टहनियोंको छूती हैं वहीं नयनोंकी कजरारी रेखा समाप्त होती है । बस ठीक ।

माला—कोमल ! कोमल !

[**मस्तकपर स्वर्ण थालमें फूलोंके गजरे और हार धरे वामन कोमलका प्रवेश ।**]

कोमल—आया, माले, आया ।

[**ध्रुवस्वामिनीके निकट आकर खड़ा हो जाता है । माला और मणि रानीका पुष्प-मण्डन करने लगती हैं । कलाइयोंको,**

कटिको, चूड़ाको, गजरोंसे सजा देती हैं। गलेमें विपुल मोतियों की एकावली है, तनपर हंसचिह्नित दुकूल फब उठता है।]

मणि—सौभाग्य चमके, देवि !

माला—क्लीबकी छाया मिटे !

मणि—पुनर्भूका चन्द्र चमके !

[ध्रुवस्वामिनी राजगतिसे द्वारकी ओर बढ़ती है। वीणावादिनी गाती है—]

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

अंक ६

[राजपूत काल। चित्तौड़गढ़। अलाउद्दीन परकोटेके नीचे हैं। राजपूत केसरिया धारण कर चुके हैं। पद्मिनी सरदारोंकी पत्नियोंसे घिरी हैं। दरबारका दूत पूछने आया है, पद्मिनी क्या करेंगी ? राजपूतनियाँ क्या करेंगी ?]

पद्मिनी—जौहर, दूत, दरबारसे कह दो, जौहर होगा। केसरिया छायामें डोलने वाली ललनाओंने पुष्पशय्याकी कामना कब की ? चन्दनकी राग-रेखाएँ जीवनमें उनका प्रसाधन करती हैं, चन्दनकी लकड़ी चितापर उनका अन्त्य मण्डन होगी।

दूत—धन्य, रानी, धन्य !

पद्मिनी—[**एकत्र राजपूतनियोंसे**] सती प्राचीन प्रथा है मानिनी नारियों-की। राजपूतनियोंने उस एकाकी मृत्युको सामूहिक बल दिया है।

जौहरका बल । बोलो, स्वीकार है तुम्हें वह बलिदान ?

सैकड़ों पात्र—[**एक साथ**]—स्वीकार है !

पद्मिनी—देखो—कोई तुम्हें चितारोहणके लिए विवश नहीं करता । जो इस यज्ञके लिए तैयार न हो वह निर्भय चली जाय ।

[**सब चुप हैं । एक आवाज़ नहीं होती ।**]

[**सब जाती हैं ।**]

पद्मिनी—कान्ता, चन्दनकी चिता चुनवा दे, क़िलेकी बुर्जियोंके नीचे मैदानमें । सतियोंकी राखसे उन बुर्जियोंके शालीन शिखर पवित्र होंगे । चलो !

[**सब जाती हैं ।**]

दृश्य २

[**मेवाड़का कोट । राजप्रासादका एक कोना । मीरा करताल लिये खड़ी है । राणा कुपित हैं ।**]

राणा—चली जाओ, रानी, जब तुम कुल-धर्म नहीं निबाह सकतीं !

मीरा—चली जाऊँगी, राणा । निश्चय चली जाऊँगी । माता-पिताने तुम्हें तन दान कर दिया । ले लो मेरा यह तन । भोगो इसे, चाहो, नष्ट कर दो, तुम्हारा है । पर मन तो मेरा है, राणा । उसे कौन तुम्हें दे सका ? वह तो सदा मेरा रहा है, मेरे गिरिधर गोपालका । वह तुम्हें कैसे दे दूँ ? एक बार उसे गिरिधरको देकर फिर तुम्हें कैसे दूँ ?

राणा—[**काँपती आवाज़में**] जाओ, चली जाओ ! राजसे बाहर चली जाओ !

मीरा—चली, राणा, चली राजसे बाहर तुम्हारे। नन्दलालके राजकी वासिनी हूँ। चली उसके कोटकी ओर, वृन्दावन—

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिये भाल।
अधर सुधारस मुरली राजत, उर बैजंती माल॥
छुद्र घंटिका कटितट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥

[आवाज़ दूर हटती चली जाती है]

अंक ७ । दृश्य १

[अंग्रेज़ी राजका आरम्भ। चिता धधक रही। है। पतिका शव चितापर जल रहा है। विधवा चितासे उतर भागती है। लोग उसे चिताकी ओर खींच रहे हैं, वह सती होना नहीं चाहती।]

विधवा—छोड़ दो! छोड़ दो मुझे, नर-पिशाचो! अभी मैंने दुनियाका कोई सुख न जाना। छोड़ दो, मुझे जिन्दा आगमे न जलाओ!

लोग—नीच! कुलटा! कौन-सी कामना मनमें बिठाये जीना चाहती है? जब पति ही नहीं रहा तब जीकर कौन-सा सुख लोढ़ेगी? पहलेके पापसे विधवा हुई, अब तो सती होकर अपनी भावी बना!

विधवा—अरे तुम लोग आगमें जलकर अपना भावी बनाओ। नहीं चाहिए मुझे चिता पारकी भावी। कोई बचाओ! बचाओ मुझे इन नर-पिशाचोंसे!

[सहसा सरकारी रिसाला आ जाता है, और विधवाकी सती होनेसे रक्षा होती है।]

दृश्य २

[मिट्टीका घर । युवती विधवा । मैला-कुचैला वस्त्र पहने, पर रूपकी प्रतिमा ।]

विधवा—कितना कठिन है जीवन । इससे अच्छा तो मर जाना ही रहता । सती हो गयी होती तो कमसे कम नाम-जस तो मिलता । पर मर कर नाम-जस ही कौन भोगता ?

साधुनी—विधवाका जीवन बड़े अभागका है, सच, वड़ा कठिन है ।

विधवा—समाजके ठेकेदार अस्मतपर नज़र डालते हैं । घरवाले चाहते हैं कि कहीं चली जाय, कहीं मुँह काला करलें ।

साधुनी—मनको सम्हालो, मनमें साहस भरो !

विधवा—कैसे सम्हालूं, मनको ? कैसे साहस भरूँ ? सभी ओर शत्रु हैं । आहार तक नहीं मिल पाता ।

साधुनी—प्रधानजीके पास गयी थीं ?

विधवा—चूल्हेमें जाय तुम्हारा प्रधान । मतलव भरी आँखोंसे देखता है नीच ! रोज़ लेक्चर फटकारता है—जहाँ नारियोंकी पूजा होती है वहाँ देवता रमते हैं ! उसके देवता भी वैसे ही होंगे ।

[भारतीय नारी सभाकी मंत्राणीका प्रवेश ।]

मंत्राणी—कुन्ती किसका नाम है ?

विधवा—मेरा । **[उठकर खड़ी हो जाती है]**

मंत्राणी—तुमने ही अभी 'अर्जी' भेजी थी ?

विधवा—हाँ, मैंने ही ।

मंत्राणी—काम इस तरह नहीं बननेका । आन्दोलन करना होगा । अपने अधिकारोंके लिए लड़ना होगा ।

विधवा—लड़ूंगी । पर अकेली लड़ूंगी भी कैसे ? सब तो दुश्मन ही हैं ।

मंत्राणी—नहीं, मित्रोंकी कमी नहीं है। सत्यका सहायक सत्य स्वयं होता है। अपनी आत्माका उद्धार अपने आप करना होगा। वैसे सैकड़ों-हज़ारों विधवाओं, उपेक्षितों, दलितोंका परिवार तुम्हारे साथ है। चलो, उनमें शामिल हो। अपना अधिकार लाभ करो।

[**दोनों चली जाती हैं।**]

दृश्य ३

नेता—मैं कहता हूँ, शान्तिसे काम लो, आन्दोलनसे कुछ न होगा।

मंत्राणी—मैं नारी-समाजकी ओरसे आपको दोषी ठहराती हूँ, जो हमारे प्रतिनिधि होकर हमारी पेशवाई नहीं करते।

नेता—क्या तुम्हें मत देनेका अधिकार हमने नहीं दिया है? तुम धारा-सभाओं के लिए नही खड़ी हो सकतीं? सरकारकी मंत्राणी नही हो सकतीं?

मंत्राणी—यह सब छलावा है। मैं एम. ए. हूँ, हज़ारोंमें बोलती हूँ, पर अपने पुत्रकी अभिभावक (गार्जियन) तक नहीं हो सकती! यह कैसा अधिकार है? जब निरक्षर पिता अभिभावक हो सकता है? नहीं, नहीं, राजनीतिक अधिकारका कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि आर्थिक स्वतन्त्रता न हो। ना, हम सब बन्धनमें हैं। भला हिन्दू कोड बिल क्यों नहीं पास कराते?

नेता—हिन्दू कोड बिल कोई अच्छी चीज़ नहीं है। तुम उसे समझती नहीं। हिन्दू परिवार बिखर जायेगा।

मंत्राणी—उसे क्या समाजके शत्रुओंने खड़ा किया है? उसकी योजना बनानेवाले क्या हिन्दू नहीं हैं? उनके क्या बेटियाँ नहीं हैं? केवल बेटे ही हैं? और भला हिन्दू-परिवार क्या चिरकालसे एक हैं? बिखरता नहीं आया है? यह कैसा ढोंग है!

नेता—देखो, हिन्दू कोड बिलसे बाहरका आदमी घरमें पैठ आयेगा। बात-को समझो।

मंत्राणी—उसका डर क्या है? सम्पत्तिका बँटवारा ही तो होगा। उसके बिना रहते बँटवारा क्या नहीं होता? अब मान लो दो-से-तीन हो जायँगे। और अलग हो जानेपर मित्र-शत्रु कैसे? जैसे दो भाई अलग-अलग वैसे ही दो भाई और एक बहिन तीनों अलग-अलग। अब यह फ़रेब रहने दो। नैतिकताकी आड़मे शिकार न खेलो। खैर, तुम अपाहिजोंसे अपना काम न बनेगा। चली, देशकी जनताके सामने अपनी माँग रखने। वही निर्णय करेगी। मुबारक तुम्हे तुम्हारी नेतागिरी!

[**चली जाती है।**]

दृश्य ४

[**राष्ट्र-संघकी मानवीयता-समितिमें। राष्ट्र-संघकी अध्यक्ष नारी बैठी है। नारी बोल रही है।**]

नारी—हमें हमारा नारीत्व चाहिए। हम 'देवी' नही होना चाहते। हमें पूजाकी वस्तु होनेसे नफ़रत है। हम चाहते हैं पुरुषका वास्तविक अद्र्धाङ्ग होना। उसके कन्धेसे कन्धा मिलाकर मानवीय समस्याओंको सुलझा सकनेका अधिकार, बस! हम इन्सान हैं, इन्सानियतसे बढ़कर धरापर कोई वस्तु नहीं। हम इन्सानियतके दावेदार हैं। हमें राष्ट्र-सघ इन्सान बननेमें सहायता करे।

अध्यक्ष—[राष्ट्र-संघ नर-नारीका भेद नहीं करेगा, जैसे धर्म-धर्ममें, जन-जनमें वह भेद नहीं करता। इन्सानके लिए इन्सानियतकी विरासत बख़्शना ही उसकी एकमात्र कामना है। इन्सानको उसका हक़ हासिल हो !

[**पटाक्षेप**]

●

शाही मजूर

वाचक—फ़रग़नाकी हरी घाटी तैमूरने जीतकर अपने वंशजोंकी विरासत कर दी थी। परन्तु तैमूरिया ख़ानदानके पिछले बादशाह उसे सम्हाल न सके। वह उनके हाथसे निकल गया। बाबरने बार बार समरकन्दकी सल्तनत जीती और खोयी और अन्तमें उसने काबुल और हिन्द जीत वहाँ डेरा डाला। फिर भी मरते दम फ़रग़ना जीतनेकी उसकी हविस न मिटी। उसे वह अपनी औलादकी रंगोंमें डालता गया और मुग़लिया ख़ानदानके, हुमायूँसे शाहजहाँ तक, एकके बाद एक, सभी बादशाह वख़ाँ [**वक्षु, वक्षाब, आमू**] की केसरकी क्यारियों वाली हरी-भरी घाटी बलख़को जीतनेके निरन्तर प्रयास करते रहे। शाहजहाँने भी जीतनेकी कोशिश की। बीस करोड़ रुपये उन युद्धोंमें ख़र्च किये। कभी एक शाहज़ादेको भेजा, कभी दूसरेको। एक बार जब उसने औरंगज़ेबको वहाँ भेजा तब वहीं, बदख्शांकी घाटीमें:—

वाचिका—सुन्दर इकहरा छरहरा बदन, गोरा-भभकता चेहरा, बाल पीछे लौटे हुए, चिकनी स्याह हल्की डाढ़ी, चेहरा हाथोंपर नीचे झुका हुआ, बायें हाथमें गोल सफ़ेद छोटी टोपी जिसकी निचली चौड़ी सतहपर दाहिने हाथकी सुई तेज़ चलती जा रही है, अभिराम महीन डिज़ाइनें कढ़ती जा रही हैं। तीसरा पहर हो चला है, चारों ओर फ़ौजका पहरा है, तीन दिनोंसे लड़ाई रात-दिन चलती रही है, आज दोपहरको दुश्मन पीछे हटा है, दम लेनेको फुरसत मिली है, सेनापति कमर खोल आराम कर रहे हैं। फिर भी फौज मुस्तैद है। क़ातिल बेगोंका क्या ठिकाना, कब मौतका पैग़ाम लिये आ पहुँचे। [**शिविरके द्वारमें किसीकी छाया डोलती है। सुई रोक टोपीसे नज़र उठा ख़ूबसूरत छरहरा नौजवान**

औरङ्गजेब उधर देखता है। ग़ुलाम दोबारा मुजरा करता है]

औरंग०—[**गम्भीर आवाज़में**] क्या ख़बर है मंसूर ?

मंसूर—हवाएँ ख़ामोश हैं, मालिक। परिन्दे दीने पाकके पैग़ाम ले आलममे फैल गये हैं।

औरंग०—नहीं, मन्सूर, उसे छोड़, रोज़गारकी बात कर।

मंसूर—बन्दा बाज़ारसे ही लौटा है, मेरे आक़ा। [**तीन रुपये सामने रख देता है।**]

औरंग०—अच्छा तीन रुपये ! एक टोपीके लिए कुछ बुरे नहीं !

मंसूर—[**व्यंग्यपूर्वक**] कुछ बुरे नहीं, गरीबपरवर ! आलमपनाह, शाहोंके शाह, दिल्लीके मुगलिया आफ़ताब शाहजहाँके शाहज़ादेके लिए तीन रुपये ख़ामी दौलत है !

[**ग़ुलामकी बूढ़ी काँपती आवाज़ आसुओंके साथ।**]

[**औरंगज़ेब हँसता है। टोपी नीचे रख देता है।**]

औरंग०—जी छोटा न कर, मंसूर। मुझसे कोई बढ़कर नहीं। दिल्लीकी शानोशौक़त इन टाँकोंके फन्दोंमे झूलती है। मुझे किस बातकी कमी है जिससे तू बेचैन हो जाया करता है, भला ?

मंसूर—ख़ुदा समझेगा, मेरे मालिक, इस कुर्बानीको, इस शाही फ़कीरीको !

[**बूढ़ेका गला और भी भर आता है।**]

औरंग०—बाज़ार दूर है, मंसूर ?

मंसूर—पास, बिलकुल पास, मालिक। फ़ौजोंकी आख़िरी खाई पार, बस यहाँसे मील भरपर। और बाज़ार क्या है, दो चार ख़ेमेदार दुकानें हैं जहाँ लोग बेचते भी है, ख़रीदते भी हैं।

औरंग०—और ख़तरेसे डरते नहीं ?

मंसूर—बेगके सिपाही उन्हें नहीं छूते, ग़रीबनेवाज। अपने लोगोंसे भी उन्हें डर नहीं। घण्टे भरमे माल बेच-ख़रीद कर वे डेरा-डंडा उठा लेते हैं। पर मैं तो कहता हूँ····[**चुप हो जाता है।**]

औरंग०—बेग इन्साफ़पसन्द है, मंसूर। लोग सच कहते हैं।

मंसूर—सही, मालिक, पर मेरी बात टाल दो बन्दानेवाजने।

[**नौजवान निगाह सामने डालता है, दरवाज़ेकी ओर जहाँ दूर गर्द उड़ रही है।**]

मंसूर—मै तो कहता हूँ—[औरगज़ेबकी आँखें उसके चेहरेपर लौट पडती हैं।]

औरंग०—क्या कहते हो, मंसूर? यह तो तुम सदा ही कहते आये हो। पर मुझे जो वह मजूर नहीं। मानता हूँ कि मेरा नाम ले लेनेसे सरहिन्दके बाज़ारोंमे इन टोपियोंकी क़ीमत हज़ारगुनी हो जायगी। शाहज़ादेकी बनाई टोपी पहननेका गुरूर किसे न होगा? पर ना, ऐसा नहीं होनेका। ऐसा ही होना होता तो क्या दक़नके ख़ज़ानेमें दौलतकी कमी थी जो उँगलियोमे सुई भोंकता, आँखोंकी बेवक़्त रोशनी छीनता? क्या दिल्लीमे, बगालमें, गुजरात और मालवामे यही नहीं हो रहा है? पर ना, औरंगज़ेबके लिए वह हराम है! हलाल बस इस हाथकी कमाई है। [**चेहरा फिर नीचे टोपीपर झुक जाता है। एक हाथसे टोपी उठा लेता है दूसरेसे सुई। सुई टपाटप चलने लगती है।**]

[**ग़ुलाम लमहे भर खड़ा रहता है फिर सलाम करता चुपचाप शिबिरसे बाहर निकल जाता है।**]

[**औरंगज़ेबकी आवाज़ अभी शिबिरमें गूँज ही रही है कि डंके-पर चोट पड़ती है। सैकड़ो डंके एक साथ बज उठते हैं। फ़ौजी कमर कस हथियार सम्हालने लगते है। सवार अपने घोड़ोंपर कूद पड़ते हैं। पर जब उनकी क़तार आगे बढ़ती है तब औरंगज़ेब उनके आगे होता है।**]

वाचक—घमासान लड़ाई छिड़ जाती है। मलिक दुश्मनको दम देने-लेने वाला लड़ाका नहीं। तीन दिन तीन रात लड़ाई होती रही थी,

वह सहसा आ धमकता है। घंटे भर बाद ही मुग़लोंकी सेना हिम्मत खो बैठती है। पर औरंगज़ेब तनिक भी चिन्तित नहीं है। मग़रिबकी नमाज़को डूबता सूरज याद दिलाता है। घोड़ेसे कूद वह जानमाज बिछा लेता है और अब इतमीनानसे नमाज अदा कर रहा है। दुश्मनके सरदार उसे घेर मलिकको ख़बर देते हैं। मलिक उसके शान्त चेहरेको देख दग रह जाता है।

मलिक—इस दीवानेसे लड़ना नादानी है। कोई उसे हाथ न लगाये। चलो, इसे कल जीत लेंगे। नमाज़ अदा कर लेने दो। [**औरंगज़ेबकी पेशानीपर एक बल नहीं पड़ता। सबका प्रस्थान**]

२

[**औरङ्गज़ेब क़लम चलाये जा रहा है। मुराद तेज़ीसे प्रवेश करता है**]

औरंग०—बस चार सतरें और, भाई। फिर काम ख़त्म है। [**औरंगज़ेब क़ुरानकी पोथी एक ओर रख देता है।**]

मुराद—[**चिढ़कर अधीरतासे**] सामूगढ़ धर्मात नहीं है, बिरादर। बूँदीका छत्रमाल क़स्द करके आया है। राजपूती लश्कर मैदानमें उमड़ती चली आ रही है। उसके सिरपर दारा है।

औरंग०—[**हँसकर**] सिरपर दारा है। दारा क्या धर्मातमें न था, मुराद? और राजपूती लश्कर क्या सिप्राके किनारेकी जानी हुई नहीं है? न सही जोधपुरकी, बूँदीकी ही सही। और मुराद, जैसे जसवन्तको देख लिया था, छत्रसालको भी देख लेंगे।

मुराद—भाईजान, वक़्त बिलकुल नहीं है। जानपर आ बनेगी। क़ुरान-

शरीफ़को किनारे कीजिए, आबेहयातके दो घूंट ले लीजिए जिसे पीकर आपका हाथी वो सामने झूम रहा है।

औरंग०—प्यारे मुराद, आबेहयातके घूंट तुम्हे मुबारक! आया मैं भी। सतरें लिख गई है, और लो इनपर सुनहरी धूल भी पड़ गई। हाशिया कल बनेगा। औरगज़ेब इसे बेचकर महीने भरके लिए गिरस्तीसे बेफ़िक्र हो जायगा। चलो, यह आया। [**मुराद अब तक अपने हाथीपर बैठ चुका है।**]

× × ×

[**राजपूतोंका भयानक हमला। गुजरात, मालवा और दकनकी फ़ौजोंमें भयानक भगदड़। मुराद, क़ासिम, दौलत सबके हाथी अपनी ही सेना रौंद चलते हैं। औरङ्गजेब अकेला। दहशत कि वह ख़ुद तो जान रहते मैदान न छोड़ेगा पर अगर हाथी भागा तो? महावतसे कहता है—**]

औरंग०—मोहसिन, हाथी कहीं भाग न जाय। वह देख राजपूत रिसालों की नई बाढ़! हाथीके पैरोंमें काँटेदार जंज़ीर डाल दे। और जंज़ीर ज़मीनमें दफ़ना दे। तब तक मैं राजपूतोंको तीरोंपर लेता हूँ। मैं नहीं हिलनेका। आज यह मैदान करबला होगा।

वाचक—लोहेसे लोहा बज चलता है। भागती दकनी सेना, भागते मुराद, क़ासिम और दौलत लौट पड़ते हैं। राजपूत रिसालोंका ज़ोर थम जाता है, छत्रसालका घोड़ा ज़मीनमें लोट रहा है, दाराका बेलगाम घोड़ा आगरेकी ओर भागा जा रहा है।

३

[औरंगज़ेब ताजपोशीसे लौटकर बैठा ही है]

मंसूर—जहाँपनाह, आज गुलाम वह माँगता है जिसे माँगनेका उसे हक़ हासिल है।

औरंग०—माँग, मंसूर, क्या लेगा ? पर क्या तख्तपर बैठ जानेसे ही सब कुछ दे सकूँगा ? ख़ैर, माँग, पर तू जानता है, कगाल हूँ, कहीं बात ख़ाली न जाय। नंगा न कर देना मुझे !

मंसूर—दीनो दुनियाका मालिक कंगाल तो अपनी मर्ज़ीसे है, पर उसकी सल्लनतकी कोई चीज नहीं माँगूँगा। फ़क़त उसका माँगूँगा, उसका अपना—बस इतना कि आज तख्तनसीं होनेकी खुशीमें दस्तरखानकी लज़्जतें मंजूर कर ली जायँ।

औरंग०—सूधे, मसूर, तुझमे मै माँका प्यार पाता हूँ। पर काश कि तू समझ पाता कि ये लज़्ज़तें मुझे अपनी ओर नहीं खींच पातीं ! मुझे उन क़ीमती चीज़ोंको खानेका हक़ नही है। मै महज़ उसे खानेका हक़दार हूँ जिसे मेरे हाथ कमाकर ख़रीद सकते है। पर पुलाव और फ़िरनी, मुश्क और केसर, हारिल और मुर्ग़ मेरे लिए नहीं। वैसे भी तू जानता हैं, मुझे गोश्तसे कुछ खास इश्क़ नहीं।

[**चुपचाप टहलने लगता है। रोशनाराका मुसकराते हुए धीरे-धीरे प्रवेश**]

रोशनारा—मैं दखल दे सकती हूँ, भाईजान ?

औरंग०—बोल, रोशन। क्या कहती हैं, तू ?

रोशनारा—कुछ पूछना चाहती हूँ, मेरे फ़क़ीर भाई।

औरंग०—पूछ, मेरी मुँहज़ोर बहन ! ज़ाहिर है तेरी आवाज़से कि तू कुढ़ गई है।

रोशनारा—मैं पूछती हूँ, फिर यह तख़्त क्यों ? यह शाही पोशाक क्यों ? यह जवाहरताजड़ा ताज क्यों ? मोतीभरे जूते क्यों ?

औरंग०—इसलिए कि वे औरंगज़ेबके नहीं आलमगीरके हैं, ख़ुदाके ख़िदमतगार बादशाहके, जो मेरे बाद वारिसके हक़मे उतर जायेंगे—यह तख़्त, यह ताज और कलंगी, यह लेबास, ये जूते। और तुम देखेगी, मैं अपने लिए महल नहीं बनाऊँगा, मक़बरा नहीं बनाऊँगा। ज़िन्दगीका दरवेश क़यामत तक दरवेश रहेगा, इंशा अल्लाह !

रोशनारा—तुम ज़िन्दा शहीद हो, मेरे भाई। बहिश्तके फ़रिश्ते तुमसे रश्क करेंगे ! [**रोशनारा चुप हो रहती है। मंसूर चुपचाप आँसू डालता रहता है। औरंगज़ेब टहलता रहता है।**]

[**पटाक्षेप**]

ताहि बोड़ तू फूल !

वाचक—जो तोको काँटा बुवे, ताहि बोइ तू फूल ! भारतीय संस्कृतिका यह मूल मन्त्र रहा है। सदा सदा ही उसने घृणाका उत्तर स्नेहसे दिया है, क्रोधका दयासे, युद्धका शान्तिसे। हमारा समूचा इतिहास इसका साक्षी है।

वाचिका—बामे दुनियाके सफ़ेद पामीरों और पीले चीनके बीच सरहिन्द है, भारतके प्राचीन उपनिवेशोंका देश। उत्तर उसके चीनियोंका देवगिरि तियेन शान है, दक्खिन क्युनलुनकी तिब्बती पर्वतमाला। पूरब क्युनलुनकी ही भुजा नान शान चीनकी अनेक महानदियोंका उद्गम है। पच्छिममे पामीरोंकी शृङ्खला एक ओर हिन्दूकुशको छूती है दूसरी ओर तियेन शानको।

वाचक—नदियोंकी अनेक धाराएँ इन पर्वतोंसे निकलकर पहले तेज़ फिर फैलकर धीमी बहतीं तकलामकानकी रेतमें खो जाती हैं। तियेन शानकी उत्तरी ढालसे उतर सिर दरिया अरल सागरको ओर बह जाती है, काशगर दक्खिनी उतारसे उत्तर दक्खिनकी ओर, तारीम तकलामकानका परकोटा बनाती लाबनौरकी ओर पूरब चली जाती है, और आमू पामीरों और हिन्दूकुशके बीच केसरकी क्यारियाँ उगाती, दाखोसे धरती ढकती, मैदानमें उतर जाती हैं। इन्हीं नदियोंके बीच कभी भारतीय सभ्यता फैली, बौद्ध बस्तियाँ बसीं। यहीं हिन्दके सन्तोंने लहू और लूटके नामपर दौड़ पड़नेवाली खूँख़ार जातियोंकी तलवारकी धारको चूमा और तलवारें बल्लरी बन गयीं।

वाचिका—उसी दिशामें तारीमके तटपर कुचीका राज था। कुची ही राजकी राजधानी थी। कश्मीरी पण्डित कुमारायण एक दिन उसी कुचीमें जा पहुँचा। कश्मीरके उत्तरमें हिमालयका मस्तक करा-

कोरम है। सिन्धकी धारा उसमें होकर बहती है, गिलगित और यासीनकी धाराएँ पामीरोंकी ओर निकल जाती हैं, कुमारायण गिलगित और यासीनकी कछारोंसे होता ताशकुर्गान पहुँचा। आगेकी राह काशगरकी थी, कुचीकी, तुर्फ़ान, तुन हुआङ्गकी, चीनकी। कुमारायण कुचीसे आगे न बढ़ सका।

वाचक—कुमारायण कश्मीरके राजाके मन्त्रिकुलमें जन्मा था। राजका मन्त्रित्व उसका पैतृक था। पर एक दिन उसे लात मार पामीरोंकी छत लाँघता वह तारीमकी घाटीमे जा पहुँचा, कुचीके नगरमें। और अपने आकर्षक आचार, शालीन पौरुष, विदग्ध पाण्डित्यसे उसने राजधानीके जन-जनको मोह लिया। राजाने उसे अपना गुरु बनाया।

वाचिका—कुमारायणके जिस आकर्षणने जीवाको मोहा वह था उसका काम्य कलेवर, उसकी मदिर भारती, स्निग्ध सौरभ। जीवा राजकन्या थी, अभिनव वसन्तकी उठती हिलोर-सी अल्हड़, वैसे ही बबूलके परागपीत कुसुम-सी कोमल, स्निग्ध सुखद। वही कुमारायण, वही जीवा एक दिन वसन्त वैभवसे लदी गुहाके सामने झाड़ियोंके बीच—

जीवा—हिमपातसे आकाश कैसा उदास हो जाता है, आचार्य, दिशाएँ कितनी सूनी हो जाती हैं। पर तब वसन्तका यह वैभव कहाँ छिपा रहता है भला, जो बादको सहसा बरस पड़ता है ?

कुमारायण—जीव दुर्बल है; जीवे, पर उसकी साँस-अमर है। एक अंकुर में समूचा वसन्त समाया रहता है और शिशिरका अविरल तुषारपात भी उसे नहीं मार पाता। अनुकूल पवनकी परस पाते ही वह अंकुर अनन्त-अनन्त प्राणोंसे पनप उठता है। शाद्वलकी अटूट परम्परा धराको निहाल कर देती है।

जीवा—एक अंकुर, एक साँस, एक प्राणकी जब यह शक्ति है, गुरुवर, तब जहाँ ग्यारहों प्राण एक-मन काँप रहे हों वहाँ वसन्त क्यों नहीं बगरता ? क्या प्राणवान्‌को प्राणोंका मोह नहीं ?

कुमार०—वसन्त बगरेगा, जीवे। प्राणोंका मोह भी प्राणवान्‌को है। पर साधनाका वरदान अभी ठिठका हुआ है। शीघ्र वह वरदान मिलेगा और तपसे डही काया फिर नवता धारण करेगी।

जीवा—कब, आचार्य, कब ? तपसे डहती कायापर उनचासों पवन झूम रहे हैं, अब तो सतीका दाहकुण्ड अपनाना ही शेष है।

कुमार०—नहीं, जीवे, ऐसा नहीं करना। सतीका आचरण यद्यपि तुम्हें सुलभ है, किन्तु शिवका पौरुष मुझमे कहाँ ! पर जानो, देवि, कि तप फल कर रहेगा, साधना सिद्ध होगी, स्नेहके कञ्चनमें रतनकी जोति जगेगी।

जीवा—गुरुवर, बारहों आदित्योंके तापसे डही धराको उत्तरके मरुको लाँघकर बहता वायुवाहित शिशिरका हिम शीतल करता है और शिशिरकी मारी कमलिनीको मधुका सौरभ अनुरागसे भेंट कर फिर जिला लेता है, पर मेरे मानसका मुकुल सदा सम्पुट ही रह जाता है, क्या यह यातना नहीं है ?

कुमार०—है, देवि। निश्चय है यह यातना, पर यातना यह परिष्कारकी है, मानसके परिष्कारकी। इसके आतपसे, शिशिरके हिमसे, जिस वसन्तका वैभव सजेगा उसका फिर अन्त न होगा। बस, तनिक और, फिर मधुकी मर्यादा बाँधते न बँधेगी।

जीवा—माना, देव, माना। पर कायाके डहनेकी भी एक मात्रा होती है। निदाघकी जलती दुपहरी लाँघ हिमके निठुर पालेपर हिया सेंकती हूँ, मनका भरम टूटने नहीं देती, पर जब एक दिन वसन्त चराचरपर सहसा छितरा जाता है, चारों ओर अंकुर फूटने लगते हैं, डहकती केसरसे झरती पराग अलकजालपर छा जाती है, तब,

मेरे देवता, मैं अपने रोम-कूपोंको संकुचित नहीं रख पाती। तब होता है, जैसे कोई होता और [उच्छ्वास] नन्दकी बनाई अपनी सुन्दरीके चिबुकसे कर्णपर्यंत रक्तिम रेखामें बाल बल्लरी लिख देता। एक बार, बस एक बार, फिर चाहे सुन्दरीका वह नन्द सदाके लिए विरत ही क्यों न हो जाता। बस, फिर तो बल्लरीकी टहनी-टहनी, पल्लव-पल्लव, मुकुल-मुकुल मधु बस जाता। निहाल हो जाती। [उच्छ्वास]

कुमार०—बोलो-बोलो, जीवे, घोलती जाओ अमृत। न रोको इस वेगवती कादम्बिनीको, बहने दो इसे।

जीवा—बहने न दूँ तो सन्देह न हो जाय ?

कुमार०—सन्देह कैसा, मदिरे ?

जीवा—भूल गये उस दिनकी अपनी ही पंक्तियाँ ? दुहराओ न। कि मैं ही दुहरा दूँ उन्हें ?

कुमार०—तुम्हीं दुहरा दो, जीवे। तुम्हारे स्वरके कम्पनमें अनन्त साधें एक साथ फूट पड़ती हैं। दुहरा दो, सन्देह निःसार कर दो उससे ! हँस कर झेलो कि तुम्हारे व्यंगसे मैं शक्ति पाऊँ।

जीवा—[गाती है]

कैसे मानूँ, तुम यह पीड़ा जान रहीं पहचान रही हो,
जब अपने नयनोंके शर बाँके कर नित सन्धान रही हो ?
देखो, नागरि, इस अन्तरको रजनी के नयनों से देखो,
जिनके तारे रंच न मुँदते आशा के स्वर भर जाते हैं,
एक तुम्हारे मदिरे नयना नयनों में पड़ गड़ जाते हैं !
कैसे जानूँ, भोले मन को सपनों से भरमा न रही हो ?
कैसे मानूँ० ?

वाचिका—और उस मधु सन्ध्यामें, प्रतीचीकी बिखरती स्वर्णिम आभासे सिक्त कलेवरमें उचकती साधें सँजोये, दोनों दो ओर चले गये।

साँझके आँचलमें लहकते केसर कुसुम झूम पड़े। पवनके फैले पंख उनसे झरती पराग दिशाओंको ले उड़े, दिशाएँ गमक उठीं।

वाचक—अगले दिन जब तारीमके जलमें स्नानकर कुचीनरेश सूर्यको टटके कुसुमोंका अर्घ्य चढ़ा रथकी ओर बढ़ा तभी उसकी उठती दृष्टिमें पुरुषकी छाया डोली। राजगुरु कुमारायण कर-बद्ध खड़ा था। राजाने प्रसन्न-वदन गुरुके चरण छुए, हाथ जोड़ बोला—

राजा—करबद्ध क्यों गुरुवर ? अकिञ्चन शिष्यकी श्रद्धा क्या व्यंगसे तिरस्कृत होगी ?

कुमार०—नहीं, राजन्, व्यंग नहीं सत्य करबद्ध हूँ आज। याचक हूँ आज तुम्हारा, आदेश हो तो माँगूँ।

राजा—देव, वसिष्ठवत् राजकुलपर शासन करनेवाले आचार्यको अभिभूत शिष्यके आदेशकी कैसी आवश्यकता ! आज्ञा करें गुरुवर !—तारीमका केसरिया अंचल दूँ या तुर्फ़ान पर्यन्त यह उर्वर धरा ? या दण्ड-छत्र सहित यह राजमुकुट ही दे डालूँ ? बोलें !

कुमार०—नहीं, राजन् ! नहीं चाहिए मुझे तुम्हारा यह तारीमका अनमोल केसरिया अंचल; न लूँगा मैं तुर्फ़ान पर्यन्त यह उर्वर धरा, और न ही तुम्हारा यह राजलांछित मुकुट।

राजा—फिर क्या दूँ, आचार्य ? तारीमसे उठते अरुणको साक्षी दे क्या अपने पुण्योंका गुरु-चरणोंमें संकल्प करूँ ?

कुमार०—नहीं, राजेन्द्र, पुण्योंका लाभ तुम्हें हो ! मुझे तो इस काल माँगनी है वसिष्ठकी इष्ट-साधिका अरुन्धती, सतियोंकी मणि अनुसूया। दे दो उसे।

राजा—कौन है वह अरुन्धती, गुरुवर, कौन वह अनुसूया ?

कुमार०—तीन निर्मम निदाघ जिसकी स्मृतिमें कुचीमें काट चुका हूँ, तीन शिशिरके हिमपात जिसकी आशामें झेले हैं, प्रातः सन्ध्याके देव-चिन्तनमें जिसकी द्युति नित्य झलकती रही है, उसी जीवाको

पत्नी रूपमें माँगता हूँ। दे दो, राजन्, मुझे अपनी वह अमूल्य निधि ! अखण्ड अनुरागसे उसका अन्तर आर्द्र है, निःसीम स्नेहसे मेरा मानम अभिषिक्त है। दे दो कि हम दोनों पावन अन्तरसे दौड़ कर रथचक्रोंकी भाँति एक दूसरेको भेंटें, कि बल्लरी तरुको घेर ले !

ाजा—अनुगृहीत हुआ, गुरुवर। पर एक शंका है। [**कुछ रुककर**] भला जीवाका तारुण्य प्रौढ़ पौरुषके प्रतिकूल न होगा ?

ुमार०—नहीं, राजन्। काया कालपरिमित है, जीव कालातीत। जीव यौवन और जराकी परिधिमे नहीं बँधता। जीवाका तारुण्य प्रौढ़ पौरुपका व्यंग न बनेगा, निश्चिन्त हों।

ाजा—निश्चिन्त हुआ, आचार्य। जीवा आपकी सहगामिनी हो, आप दोनों रथचक्रोंकी भाँति दौड़कर एक दूसरेको भेंटें, बल्लरी तरुको घेर ले !

ुमार०—निहाल हुआ !

ाचक—और उमी दिन कुमारायण और जीवा पति-पत्नी बने। दिवस, सप्ताह बीते, मास और वर्ष। तीन बार। तीसरी बार जब दिशाएँ ऋतुमती हुई, तारीमके अंचलमें तीसरी बार जब केसरकी क्यारियाँ कुसुमित हुई, तब जीवाकी कोख भरी। नयनाभिराम नवजात दिशाओंको प्रसन्न करता अभिराम रोया। माता-पिताके सम्पृक्त स्नेहके परिचायक उस शिशुका नाम पड़ा कुमारजीव।

ाचिका—पाँच वर्ष बाद कुमारायण भिक्षु होकर चला गया। जीवा भिक्षुणी बन कुचीके संघाराममे रहने लगी। फिर एक दिन दोनों, जीवा और नौ वर्षका उसका कुमारजीव, कश्मीर जा पहुँचे, अध्ययनके लिए। वहीं पन्द्रह वर्ष बाद, महाविहारके विस्तृत आँगनमें, जहाँ हज़ारों भिक्षु-भिक्षुणियोंकी, उपासक-उपासिकाओंकी भीड़ भिक्षु कुमारजीवके प्रवचन सुननेके लिए उपस्थित थी—

कुमार०—श्रावको, मेरे ज्ञानवान श्रावको, आजका दिन अनमोल है—तथागतके जन्मका, महाभिनिष्क्रमणका, उनकी सम्यक् सम्बोधीका, निर्वाणका ! आजकी इस पुण्य तिथिपर आपसे मैं कुछ माँगूँगा ।

[**'माँगें, भिक्षु, माँगें !' की अनेक आवाज़ें ।**]

कुमार०—मेरे श्रद्धावान श्रावको, अब तक तुम्हे मै देता रहा हूँ, आज मुझे तुम दो जो कुछ मैने आचार्यो, स्थविरोंसे पाया, जो कुछ मैंने भगवान्के जीवनसे, उपदेशसे पाया, जो कुछ स्वयं गुना, वह सारा ही तुम्हे मैंने मुट्ठी खोलकर दिया है । माता जैसे गर्भके शिशुको अपनी समस्त शिराओं द्वारा शरीरमे पहुँचनेवाले आहारसे, पेयसे, अनायास पुष्ट करती है, चाहकर भी अपने आहार और पेयके रससे उसे वंचित नहीं रख सकती, उसी प्रकार मैंने भी तुम्हारे मानसको अपने संचित और गुने ज्ञानसे भरा है, वर्षों । पर आज मैं तुम्हारे बीच याचक बनकर माँगने आया हूँ, निराश न करना मुझे ! अंजलि खोलकर, ग्यारहों प्राण इस अंजलिमें समेटे, रोम-रोमके कूप खोले, आज माँगता हूँ, दे दो, मेरे श्रावक-श्राविकाओ !

[**माँगें, प्रभु, माँगें ! भिक्षा, माँगें !' की आवाज़**]

कुमार०—आज तुम अपने सारे पाप, सारी व्यथाएँ, सारे कलक, सारे मोहबन्ध, रोग-व्याधियाँ, शोक-चिन्ताएँ मुझे दे दो । देखो, तुमने वचन दिया है, निराश न करना । तुम्हारा याचक आज अपने सघाटीका आँचल फैलाये माँग रहा है । अपना मोह-आसक्ति, तृष्णा-वासना, अपने राग-द्वेष, क्रोध-ग्लानि आज मुझे दे दो ! मेरे अनमोल बन्धुओ, बुद्धोंकी अटूट पंक्तियोंने, साधुओंकी जुग-जुगकी वाणीने केवल तुम्हें दिया है, कुछ भी तुमसे लिया नहीं, पर आज उन सबकी वाणीको अपने कण्ठमें डाले, भिक्षा-पात्रकी अनन्त गहराइयोंके द्वार खोले, याचक तुमसे माँग रहा है ! भर

दो उसका मुख, उसकी गहराइयाँ, मेरे चिर श्रावक-श्राविकाओ, अपने दुःख, अपनी व्याधियों, अपनी समस्त अदम्य कामनाओंसे। तुम्हें मैंने शान्ति दी है, स्नेह दिया है, ज्ञानका पाथेय दिया है; आज यह याचक तुमसे माँगता है, उसे तुम अपनी समूची अशान्ति, सारी घृणा, समस्त क्षुधा दे दो। दे डालो आज अपनी कुण्ठा, अपनी निराशा, अपनी पराजय !

वाचिका—इतने कम्पित स्वरमें याचना कभी मुखर न हुई थी। सच, सदा भिक्षुओंने दिया था, कभी माँगा न था। श्रावक-श्राविकाओं-का अन्तर गद्-गद हो उठा। अचरजसे उनके नेत्र फैल गये, आनन्द और स्नेहके आँसुओंसे भरे वे भिक्षुको चकित अपलक निहारते रहे। भिक्षु और स्थविर चकित थे इस असाधारण प्रव-चनसे। चीवर फैलाये भिक्षु खड़ा रहा, दोनों हाथ संघाटीके छोर फैलाये थे, होंठ किंचित् खुल गये थे, शान्त मुखमण्डलपर मुसकानकी आभा छिटक रही थी। धीरे-धीरे जनताकी आवाज़ उठी....'धन्य ! धन्य !' और दिशाओंमें छा गयी।

वाचक—भिक्षुके प्रवचनका वह अन्तिम दिन था। बटुरती साँझके झुटपुटे में स्थविरसे कुमारजीवने प्रस्थानकी अनुमति चाही। स्थविर बोले—

स्थविर—सारा भारत तुम्हारे प्रवचन सुननेको लालायित है, कुमारजीव। देशके कोने-कोनेसे श्रद्धावान उपासक चले आ रहे हैं, उन्हें निराश न करो, रह जाओ।

कुमार०—भन्ते ! भिक्षुको निराश न करें, अनुमति दे दें। जाने दें मुझे कुचीकी ओर। तथागतका ज्ञान फलेगा, शान्ति बँटेगी।

स्थविर—फिर उधर तो न जाओ, भिक्षु। वंक्षुकी समूची उपत्यका, पामीरों की शृङ्खलासे तारीमकी घाटीमें कुची तककी सारी धरा हूणोंसे आक्रान्त है। विकराल हूण आचार नहीं मानते, सद्धर्म नहीं

मानते। जलते नगर, उजड़ते गाँव उनकी चली राहकी कथा कहते हैं। न जाओ, हूणोंकी ओर, भिक्षु !

कुमार०—पर मुझे तो उन्हींमें जाना है, भन्ते। शाक्यसिंहकी गिराका, उन्हींके आदिनिवास कानसूमें, चीनके उस उत्तर-पश्चिमी प्रान्तमें उद्घोष करूँगा। इस देशमें, यहाँकी परम्परामें शान्ति और स्नेहकी कमी नहीं। शान्ति और स्नेहकी आवश्यकता उसी भूमिको है जहाँ हूणोंके मृत्यु-ताण्डवसे धरा धर्षित है, काँप रही है। हूणोंकी दिशाएँ मुझे पुकार रही हैं ! अनुमति दें, भन्ते !

स्थविर—कानसूमें, हूणोंकी मूल भूमिपर ?

कुमार०—हाँ, भन्ते, कानसूमें, हूणोंकी मूल भूमिपर ही तथागतके सन्देश का शङ्ख फूँकूँगा ! देशका संस्कार, घृणाका बदला प्रेमसे, क्रोधका दयासे देता रहा है। महामना अशोकके पितामहके समय यवन अलिकसुन्दरने सप्तसिन्धु जीता। असि और अग्नि लेकर आया था बर्बर। दो पीढ़ी बाद अशोकने अलिकसुन्दरके देश मक़दूनिया में, यवन राज्योंमें, औषधियाँ बँटवायी थी ! असि और अग्निके बदले उन्होंने जीनेके साधन बाँटे ! कैसे भूलूँ, भन्ते, उस पावन परम्पराको ? जाने दें मुझे भिक्षुतम, अनुमति दें !

स्थविर—जाओ, भिक्षु, निर्बन्ध हो ! दिशाओंमें समा जाओ ! तुम्हारी गिरा गगनके दूरतम छोरोंको छू ले ! तुम्हारे पराक्रमसे सद्धर्म व्यापक हो ! जाओ, बहुजनहिताय ! बहुजनसुखाय !

कुमार०—बहुजनहिताय ! बहुजनसुखाय !

[**पगचापकी ध्वनि**]

वाचक—और भिक्षु चला गया, कश्मीरकी ऊँचाइयोंसे उतर काबुलकी घाटीमें नगरहार होता बामियानकी ओर, फिर हिन्दुकुश लाँघ आमू पार वह्लीकोंमें। वहीं अब हूण बसते थे। और चढ़ गया

निर्द्वन्द्व भिक्षु पामीरोंकी चोटीपर, वहाँ उनकी बस्तियोंमें, जहाँका परकोटा बर्फ़की मेखला बनाती थी, जहाँ जाने-आनेके मार्ग मात्र ग्रीष्ममें खुलते थे।

ाचिका—और वहीं हिमकी आँधी झेलता, त्रिचीवर धारे, झीने कम्बल मात्रसे भयानक शीत जीतता कुमारजीव जा पहुँचा। हूणोंके पड़ावमें—चँवरी गायोंकी खालके तम्बुओंमें रक्तके प्यासे अदम्य हूणोंका निवास था—सिंहको फाड़ डालनेवाले कुत्तोंके बीच, हुङ्कारसे पर्वतकी छाती दरका देनेवाले हूणोंके बीच! काया कोमल थी उस भिक्षुकी, आत्मा लोहवत् दृढ़, सङ्कल्प प्रयत्नमें निर्मम था। मन्तरियोंने घेर लिया। ले गये सरदारके सामने, भालोंके बीच।

ारदार—[**बिजलीकी कड़क-सी आवाज़में**] कौन हो तुम?

ुमार० [**हँसकर**] पहचानो!

ारदार—[**कुछ रुककर स्निग्ध स्वरमें**] ऐं, हाँ, पहचाना, शत्रु हो।

ुमार०—बन्धु हूँ, तनिक आस्थासे पहचानो, हूणपति।

ारदार—अरे, तुम तो वही हो।

ुमार०—हाँ, वही हूँ; पर हूँ तुम्हारा बन्धु ही।

ारदार—क्या तुमने मेरे सैनिकोंपर जादूकर मेरे विद्रोही शत्रुको बन्धन-मुक्त नहीं किया था?

ुमार०—किया था; पर जादू करके नहीं, औचित्य पालकर। और वह तुम्हारा शत्रु नहीं, पुत्र था, आत्मज।

ारदार—मैं उसे पुत्र नहीं मानता, विद्रोही है वह, मेरा शत्रु। और देखो, तुम्हारी मृत्यु ही तुम्हें भी यहाँ खींच लायी है।

ुमार०—[**हँसकर**] विद्रोह तो स्वयं तुम्हारा अन्तर तुमसे कर रहा है, जैसे तुम्हारे पुत्रने तुमसे किया था। रही मेरी बात, तो मुझ

अकिञ्चन भिक्षुको मारकर मुझे बड़भागी ही बनाओगे। मरण तो शरीर-बन्धसे मुक्तिका नाम है।

सरदार—[**कड़ककर**] मैं तुम्हारी ये बातें नहीं समझता। न तब समझा न अब समझ पा रहा हूँ। मै एक बात समझता हूँ, कि तुम मेरे विद्रोही शत्रुको बन्धन-मुक्त करके मेरे शत्रु हो गये हो, और मुझसे शत्रुताका परिणाम तुम जानते हो !

कुमार०—[**धीमे स्वरमें**] हूणपति, जिसके उल्लासकी कथा उजड़े गाँव और धधकते नगर कहते हैं उसके कोपके परिणामका अनुमान करना कठिन नहीं, पर मैं फिर कहता हूँ—तुम्हारा बन्धु हूँ, तुम्हें भयसे मुक्त करने आया हूँ।

सरदार—[**कड़ककर**] बन्द कर बकवास ! सिंहकी माँदमें सिंहको छेड़ रहा है। मुझे कायर कहता है। मुझे किसका भय ? जिसके भयसे दिशाएँ काँपती हैं, शत्रु बिना लड़े पहाड़की चोटीसे कूदकर डरसे प्राण दे देते हैं उसे डरपोक कहता है। जिसकी सेनाओंकी धमकसे पामीरोंकी छाती दरक जाती है, वह डरेगा ! जिसका नाम सुनते ही सार्थवाह विपन्न हो जाते हैं, कश्मीर और काशगर, बामियान और बास्त्री, खुतन और कुची, तियेनशान और तुर्फ़ान हिल जाते हैं, उसे भय है ! तू पागल है, निरा पागल !

कुमार०—कोप न करो, हूणपति, तथ्यको समझो। तुम्हारी सारी क्रियाओंका कारण त्रास है, अकारण भय। कश्मीर और काशगरको तुम डरसे लूटते हो, बामियान और बास्त्रीको समय-समयपर तुम उसी भयके कारण रौंद आते हो, खुतन और कुचीपर तुम त्रासके मारे ही घेरे डाला करते हो, तियेनशान और तुर्फ़ानकी गुहाएँ तुम्हारे मारक शत्रु न उगल दें इस डरसे बार-बार उनके फेरे लगाते रहते हो। बोलो, क्या यह सच नहीं ? मनको

टटोलकर बोलो, क्या भय तुम्हारी संचालक शक्ति नहीं, तुम्हारी जघन्य क्रूरताओंका जनक नहीं ?

सरदार—[**कुछ निस्तेज होकर सैनिकोंसे**] ले जाओ, बन्द कर दो, इस पागलको, कीलोंकी कारामें।

[**सैनिकोंके जूतोंकी आवाज़, चट्टान टूटनेकी आवाज़**]

कुमार०—[**जाते जाते**] मुझे निश्चय बन्द कर दो, बन्धनमें डाल दो, पर भला तुम कब अपने बन्धनसे मुक्त होगे ?

[**प्रस्थान**]

वाचक—हूणपतिने कुमारजीवको कारामें भेज तो दिया पर उसे लगा कि उसने अपनी ही छातीपर जैसे शिला धर ली है। पहली बार जैसे किसीने उसकी क्रूरताओंका रहस्य खोलकर सामने रख दिया है। उसके नयनोंकी नींद मर गयी, भूख खो चली, विजयोंका अहंकार नरम पड़ गया। वह अपनी की हुई एक-एक हत्याको, एक-एक अत्याचारको, उजाड़े गाँवोंको, जलाये नगरोंको अपने ही वध किये बेटोंको, सोचने लगा। उसे लगा जैसे सचमुच उसके सारे कार्योंका मात्र कारण त्रास रहा है—हाथमें जो है उसे खो देनेका त्रास। और उसके मारे हुए शत्रुओंके अस्थिपंजर, अपने हाथों काटे हुए अपने ही बेटोंके कंकाल उसकी शान्ति हरने लगे। झपकियोंमें देखी अपने क्रूर कर्मोंकी भयानक यन्त्रणा उसे कँपाने लगी। अनेक बार वह भयसे चिल्ला उठता। उसने सप्ताहके अन्तमें भिक्षुको उपस्थित करनेकी आज्ञा दी। भिक्षु आया। कीलोंके चुभनेसे रक्तका जहाँ-तहाँ प्रवाह जारी था, सारा शरीर लहू-लुहान हो रहा था। पर मुँहपर उदासीका नाम न था, मुसकान खेलती थी।

सरदार—[**बनावटी हँसी हँसकर**] पागल, कैसे हो ?

कुमार०—कीलोंकी सेजपर सोता हूँ, सुखकर नहीं है। जीवन दुःख है यह तथागतका देखा सत्य स्पष्ट हो आता है, जीवोंके प्रति स्नेह और

उमड़ आता है, उनके दुःखोंकी यादसे काया डह जाती है। पर भला तुम तो कहो, हूणपति, क्या तुम्हारी रातें शान्तिसे बीतती हैं ? [**रुककर**] पर तुम्हारे नेत्रोंमें तो उन्निद्र बसा है। मैं तुम्हारे दुःखसे दुखी हूँ, हूणपति, आकुल मनको स्थिर करो।

सरदार—[**बनावटी कड़क भरी आवाज**] मेरा मन स्थिर है, भिक्षु। रातें चैनसे सोकर बिताई हैं मैंने। मैं निडर हूँ, कालसे भी नहीं डरता।

कुमार०—[**बात काटकर हँसते हुए**] तुम अपनी छायासे डरते हो, हूणपति, अपने ही स्वरसे, अपने किये कृत्योंसे। लोभने तुम्हें क्रोध दिया, क्रोधने कृत्य, कृत्योंने भय और अब तुम्हारा सारा आचरण मात्र त्रासके अधीन है। वही तुम्हारी सेनाओंका संगठन करता है, तुम्हारे अभियानोंका निश्चय करता है, युद्धोंका संचालन। भयकी तुमने आँधी चलायी है, उसके प्रधान शिकार स्वयं तुम हो चले हो।

सरदार—[**सहसा आसनसे गिर पड़ता है**] ऐं, यह मुझे क्या हुआ ?

[**सैनिकोंका डरकर इधर-उधर हट जाना**]

कुमार०—[**सरदारको आसनपर बैठाता हुआ**] उठो, संज्ञा लाभ करो, हूणपति। संसारमे भयका पक्ष गौण है। संसारका प्रजनन-पालन स्नेहसे होता है। स्नेह उसका प्रधान पक्ष है, जानो। जो दूसरोंको अपने त्राससे शङ्कित करता है वह स्वयं अपनी छायासे डरता है। धरापर इतनी धूप फैली है, इतना बन्धुत्व भरा है ससारमें—उनका अपमान न करो, भोगो उन्हें।

सरदार—[**धीमे स्वरमें**] भिक्षु !

कुमार०—बोलो, हूणपति। कहो।

सरदार—न कहो हूणपति मुझे, भिक्षु। मैं तुम्हारी कीलोंपर भी चलनेवाली शक्तिसे ईर्ष्या करता हूँ। तुम अपनी यह शान्ति, यह

मुसकान तनिक मुझे भी दो, मुझ क्रूर बर्बरको, जिसने न तो किसीको चैनकी नींद सोने दिया न स्वयं सोया। सच कहा तुमने कि मेरे कार्योंका मात्र कारण भय है और अब मैं दूसरोंमें त्रास भर कर स्वय अपनी छायासे, अपनी निद्रा और शान्तिसे डरने लगा हूँ। निकटतम बन्धु मेरा पहला शत्रु है, उसीको अपनी रक्षाके लिए नियुक्त करता हूँ, उसके खड्गसे सर्वाधिक डरता हूँ! इसी भयने मुझसे अपने बेटों तकका बध कराया। तुम अपनी वह निश्छल हँसी, अपनी वह शान्ति तनिक मुझे भी दो! [**फूट पड़ता है।**]

कुमार०—ले लो, बन्धु, ले लो! मेरी शान्ति, मेरा स्नेह ले लो, बन्धुत्व ले लो! धराकी परिधि बड़ी है, बन्धुत्वकी उससे भी बड़ी; और स्नेह तो वह निःसीम सम्पदा है जिसपर शान्तिका अघट वैभव प्रतिष्ठित है। सब उसे पा सकते हैं। सबके ले लेनेपर भी वह नहीं छीजती। आओ उसकी परिधिमें, मेरे जगे बन्धु, सद्धर्मकी परिधिमे आओ!

सरदार—भन्ते, क्या मेरे जैसे क्रूर पातकोंके लिए भी तुम्हारे सद्धर्ममे स्थान है? मैं भला किस मुँहसे उसकी शरण जाऊँ?

कुमार०—तुम्हारी क्रूरता निश्चय भीषण है, मित्र, पर बन्धुत्वका विस्तार अनन्त है। तुम्हारी घृणा निःसन्देह घनी है, पर स्नेह देश-कालकी परिधि नहीं मानता, और सद्धर्म अपने द्वार सदा सबके लिए उन्मुक्त रखता है। आजसे तुम संघमित्र हुए, आओ, प्रवेश करो सद्धर्ममें!

वाचिका—और उस विक्रान्त हूण सरदारने सद्धर्ममें प्रवेश किया। उसके महीनों बाद। काशगर और तारीमके बीच तकलामकानकी मरुभूमिके मार्गमें भूख-प्याससे व्याकुल टट्टुओंपर चढ़े कुमारजीव और संघमित्र। भयानक गर्मी, भीषण प्यास।

संघ०—भन्ते, अब प्यासके मारे प्राण आकण्ठ आ गये हैं। एक पग नहीं बढ़ा जाता। टट्टुओंकी भी शक्ति क्षीण हो चुकी है।

कुमार०—उनकी चिन्ता न करो, संघमित्र। पशुमें मनुष्यसे प्यास कम होती है। जीवोंमें तृष्णालु सबसे अधिक मानव ही है। [**हँसता है।**]

संघ०—कैसे सयम रख पा रहे हैं, भन्ते ? आप तो मुझसे कहीं दुर्वल है। आपके होंठ तो और भी अधिक सूख गये हैं।

कुमार०—[**हँसता हुआ**] सघमित्र, चोटसे चट्टान टूट जाती है, पहाड़की छाती दरक जाती है; पर मानव हृदय अपने ऊपर रेप नही लगने देता। वह जितना ही क्रूर हो सकता है, कठोर, उतना ही स्नेहिल, द्रव भी। हिया पाहनसे भी कठोर है, वज्रसे भी निर्मम; और सहनेकी शक्ति जितनी उसमे है उतनी लोहेमें भी नहीं। काया गल जाती है पर मर्मका बना हिया मुरझाता तक नहीं। मनकी शक्ति बड़ी है भिक्षु, अपार।

संघ०—क्या करूँ, भन्ते ! अब तो जैसे चरण कण्ठमें समाकर अवरुद्ध हो गये हैं। प्यास अब और चलने न देगी। अब मुझे, भन्ते, इस सिकतामे समाधि लेने दें। आप मेरे चीवर ले लें, सम्भवतः आतपसे कुछ रक्षा हो।

कुमार०—[**हँसकर**] तुम्हारे चीवर आतपसे मेरी रक्षा कहाँ तक कर सकेंगे, संघमित्र ? अच्छा देखो, एक काम करो। अश्वकी शिरा काटकर थोड़ा रक्त पी लो, पिपासा कुछ शान्त हो जायेगी।

संघ०—ऐं, यह क्या भन्ते ? हिंसा ?

कुमार०—यह हिंसा नहीं है, भिक्षु, रक्षा-कवच है, धारण करो इसे। जीवनसे बढ़कर कुछ भी पवित्र नहीं। फिर इष्ट कानसू पहुँचना है, जीवित रहकर। यहाँ अधिकके लिए कोड़ेका हनन है। इष्ट

महान् है, सङ्कल्पकी दृढ़ता और इष्टकी सफलताके लिए यही उचित है।

संघ०—धन्य हैं, भन्ते, कि दृष्टि अब भी कानसूपर ही लगी है। पर भला आप अपनी प्यासके लिए क्या करेंगे ?

कुमार०—अभी कोई चिन्ता नहीं, पर यदि आवश्यकता हुई तो मैं स्वयं भी वही करूँगा जिसकी तुम्हें अनुमति देता हूँ। और तनिक रक्त ले लेनेसे टट्टुओंकी मृत्यु भी नहीं हो जाती।

वाचक—इस प्रकार दिन और रात एक करते दोनों भिक्षु कुची पहुँचे। जीवा पहलेसे वहाँ पहुँच चुकी थी। महाविहार कुमारजीवके लिए अपने द्वार खोले उत्सुक था। भिक्षुका यश दिशाओंको भर चुका था। भिक्षु और उपासक, स्थविर और आचार्य, राजा और रक उसके स्वागतके लिए खड़े थे।

वाचिका—भिक्षुने वर्षों अपने ज्ञानका कोष कुचीमें लुटाया। अब भी उसका इष्ट तुन हुआँग ही था, कानसू ही; पर उसके लिए उसे पर्याप्त तैयारी करनी थी। चीनमें वह बौद्ध सिद्धान्तोंका प्रचार चाहता था जिससे वहाँकी दुर्धर्ष जातियाँ हिंसासे विरत हो जायँ, स्नेहसे सिक्त।

वाचक—चीन अब भी निर्मम था। उसके निष्ठुर योद्धा देशमें रक्तकी होली खेल रहे थे, जगह जगह राज खड़े हो रहे थे, मानवताकी काया नित-नित क्षीण होती जा रही थी। और एक दिन चीनियों-ने कुचीके नगरपर भी घेरा डाल दिया। नगरकी शक्ति टूट गयी। चीनी सेनापतिने कुमारजीवको भी बाँध लिया। माता जीवा भिक्षुणी रूपमें खड़ी थी, आँसू रोके। बद्ध कुमारजीव मुसकराते हुए बोला—

कुमार०—देवि, आज्ञा दो, चलूँ। संकल्प फला। अनायास हूणोंके मूल देशसे आह्वान आ गया। आशीर्वाद दो, इष्ट पूरा हो !

जीवा—जाओ, भिक्षु, कानसूका तुम्हारा संकल्प पूरा हो !

कुमार०—चिन्ता न करना, देवि, सद्धर्मके महामार्गपर तुम्हींने मुझे आरूढ किया था। आशीर्वचन करो कि चेतूँ, कि उपासक चेतें, कि जग चेते।

जीवा—जाओ, कुमारजीव, जाओ ! पन्थ निःशूल हो। तथागतके देखे सत्यका प्रसार करो—सत्य जिसका आदि कल्याणकर है, मध्य कल्याणकर है, अन्त कल्याणकर है ! बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, जाओ !

कुमार०—[**जाता हुआ**] बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय !

वाचिका—और भिक्षु चला गया, बन्दियोंके बीच, विजयिनी चीनी सेनाके साथ। जब तक ऊँटोंकी घण्टियाँ बजती रहीं, जब तक टट्टुओंकी धुँधली रेखा क्षितिजसे मिट न गयी, जब तक उनके पदोंसे उठी धूल आकाशमें विलीन न हो गयी, तब तक जीवा खड़ी पूर्वकी ओर भरे नयनों देखती रही।

[ठक्...ठक्...ठक्....पत्थर **काटनेकी आवाज : उसीके बीच वाचिकाका स्वर**]

वाचिका—तुन हुआँगकी गुफाएँ खद रही हैं [**ठक्....ठक्की आवाज निरन्तर**], कान-सूके हूणोंने नत-मस्तक हो कुमारजीवके उपदेश अपनाये हैं। गुफाएँ काटी जा रही हैं। आस्थावान श्रम पर्वत तोड़ता जा रहा है कि उसकी चिकनाई दीवारोंपर बुद्धके चारों वैभव लिख लिये जाँय—जन्मके, महाभिनिष्क्रमणके, सम्बोधीके, निर्वाणके, कि विश्वबन्धुत्वकी उदार धारा मरुमें निरन्तर बहती रहें, कि प्रीति घृणाको जीत ले, मानवता बर्बरताको।

वाचक—कुमारजीवकी युग-साधना पूरी हुई। बारह वर्ष हूणोंके मूल

स्थानमें रह कर उसने बौद्ध ग्रन्थोंका सम्पादन किया। पुस्तकोंके प्रचारके लिए चीनियोंने कागज़ कबका तैयार कर लिया था, अब उन्होंने मुद्रणका भी आविष्कार कर लिया। भारतके उस सद्धर्मने दूरके बन्धु मानवको परसनेके लिए, उसके प्रकाशके लिए, जो ज्ञान भेजा वह अनन्त पोथियोंमें छपा और उस प्रयत्नका परिणाम यह हुआ कि पुस्तकोंकी छपाई संसारमें प्रचलित हुई।

वाचिका—किसीने न जाना कि उस भारतीय प्रेरणाका परिणाम इतना दूरगामी होगा, कि अगली सदियोंके यूरोपके पुनर्जागरण और धर्म-सुधारके आन्दोलनोंमें उसी मुद्रण-कलाका उपयोग होगा जिसके आविष्कारकी प्रेरणा कर्मठ चीनियोंको भारतने दी। कुमारजीवकी साधना सफल हुई।

[**देह-त्यागके समय अपने शिष्योंसे घिरे हुए कुमारजीवने कहा**—]

कुमार०—मेरे कर्मको चेतो। कर्म जो मानव सेवाके रूपमें मेरा अनुष्ठान बन गया था। पर मेरे जीवनको आदर्श न मानो। मैं कीच हूँ। कीचमें कमल फूलता है। मेरी साधना कमल रूपमें फूली। कमल लोढ़ लो, कीच छोड़ दो।

वाचक—देशसे जाने वाले भिक्षुओंने उस कर्मको चेता, उसे आगे बढ़ाया। तुन हुआंगके दरीगृह छेनीकी कीर्तिसे खड़े होते गये। सौ वर्ष बाद गौतम प्रज्ञारुचि काशीसे चल कर जब तुन हुआंग पहुँचा तब भी वहाँ चट्टानोंपर धुँआधार छेनियाँ बरस रही थीं। उसका सुकोमल मन मथ गया। वृद्ध स्थविरसे वह बोला—

प्रज्ञारुचि—भन्ते, अतिल हूणने रोमके साम्राज्यकी रीढ़ तोड़ दी है। सागरसे ईरान तक फैला वह साम्राज्य टूक-टूक हो गया है।

दिशाएँ रक्तके छींटोंसे लाल हो उठी हैं, नदियोंमें रक्ताभ जल उमड़ आया है। लोकपाल विचलित हो गये हैं।

स्थविर—[**कुछ ऊँची भारी आवाज़में**] प्रवचनोंकी मात्रा बढ़ा दो, स्नेहकी बाढ़में घृणाको डुबा दो ! यहाँके हूण सद्धर्ममें दीक्षित हो चुके हैं, उनका सकल्प उनके बन्धुओंका इष्ट होगा। कोप न करो, भन्ते।

प्रज्ञारुचि—कोप नहीं करता, भन्ते। पर तनिक और सुनें—भारतका वैभव नष्टप्राय है। हूणोंने सप्तसिन्धुसे अन्तर्वेद तक धरा आक्रान्त कर ली है। तथागतकी मूर्तियाँ मध्यदेशमे, गान्धार और उद्यानमें चूर-चूर हो रही हैं। गुप्त सम्राटोंका विशाल साम्राज्य लड़खड़ाकर गिर पड़ा है। सरस्वती बर्बर हूणोंको मोर्छल झल रही है।

स्थविर—शान्त हो, भिक्षु ! सद्धर्मका पराक्रम कुछ थोड़ा नहीं। हूणोंकी गति रुक जायेगी, उसी मात्रामें जिस मात्रामे हमारा स्नेह उन पर प्राणवान् होगा। रोमनोंकी शक्ति-ताण्डवसे गुप्तोंका शक्ति-ताण्डव भिन्न नहीं है। मानवका मूल आचार मानवीयता है, उस मानवीयताका नाम स्नेह और बन्धुत्व है। हिंसाके बाहुल्यका अर्थ है विरोधी तप और साधना, प्रेम और दयाकी कमी। गुप्त साम्राज्य मिट गया, मिट जाय। देशकी मूल प्रेरणा जब तक विश्वबन्धुत्व है, क्रोधका उत्तर जब तक वह शान्ति और क्षमासे देता है, तब तक उसका स्रोत सूख नहीं सकता, जीवन सहस्र-धाराओंसे प्राणवान् होकर बहेगा। निर्द्वन्द्व हो, भिक्षु, गरल पीकर अमृत उगलो। नीलकण्ठके व्यापक आचारसे मूर्धा टिका दो।

[**निरन्तर छेनियोंकी आवाज़**]

वाचिका—और तुन हुआंगके दरीगृह सदियों अपने कलेवरपर अजन्ताकी परम्परा उतारते गये। हूणोंकी युद्ध-पिपासा मिट गई। चीनने

तबके बाद सदा युद्ध-विरोधी नीति अपनाई, शान्ति और प्रेमामृतकी। और आज उसके राष्ट्रीय नाट्यशालाकी यवनिकापर अजन्ताकी स्मृतिमें तुन हुआंगके गगनचारी विद्याधरोंके चित्र-प्रतीक लिखे हैं। भारतीय संस्कृतिकी मूल प्रेरणा चरितार्थ हुई, दूरकी अगली सदियोंके सन्तने फिर संकट कालमें खुल कर गाया—

[**जो तोको काँटा बुवे, ताहि बोइ तू फूल !**]

महाभिनिष्क्रमण

दृश्य १

[मूल पाली पदोंका पाठ]

[**दिव्य संगीत—वाचककी पृष्ठ-भूमिमें मन्दस्वर ।**]

वाचक—अचिरावती, रोहिणीके मध्य लुम्बिनी फूल उठी । देवदहके मार्गमें माया खड़ी थी, शालभजिकाकी मुद्रामें । शाल फूल उठा । [**तनिक रुक कर**] नवजातने सात पग लिये, पग-पगपर पुण्डरीक विकसा । शक्र और महाब्रह्माने नवजातको उठा लिया, कल्पतरुओंके कुसुमजाल पर । प्रसन्न देवोंके उत्सव अपनी परिधियोंको लाँघ चले । उनसे भावी बुद्धका जन्म सुन महर्षि कालदेवल शुद्धोदनके महलोंमें पहुँचे । नवजातको देखकर गद्गद हुए । लक्षण पढ़े—[**संगीतका तिरोभाव**] ।

कालदेवल—बत्तीस लक्षण, अस्सी अनुव्यजन ।

शुद्धोदन—[**गद्गद स्वरसे**] परिणाम महर्षि ?

[**नेपथ्यसे**] **"स चेदगारमध्यावसति राजा भवति । चतुरङ्गश्चक्रवर्ती··· स चेत्पुनरगारादनगारिकां प्रव्रजति तथागतो भविष्यति विधुष्टशब्दः सम्यक्सम्बुद्धः ।"**

काल०—सार्वभौम चक्रवर्ती ।

शुद्धोदन—[**प्रसन्न स्वरसे**] सार्वभौम चक्रवर्ती ?

काल०—सार्वभौम चक्रवर्ती । सार्वभौम बुद्ध ।

शुद्धोदन—नहीं समझा, महामुनि ।

काल०—नवजात यदि संसारमें रुका तो सार्वभौम चक्रवर्ती होगा, प्रव्रजित हो गया तो सार्वभौम बुद्ध ।

वाचक—महर्षि सहसा रो पड़े । फिर भागिनेय नालकको देख हँसे ।

शुद्धो०—महर्षि, दुःखी क्यों हुए ? क्या संकटके भयसे ?

काल०—आश्वस्त हो, राजन्, संकटकी नवजातपर छाया तक नहीं पड़ेगी। [**फिर नालककी ओर देखकर**] भागिनेय, भाग्यवान् है तू, सुनेगा, मैं अभागा जो शाक्यसिंहको सुन न सकूँगा।

दृश्य २

वाचक—अंकुर बढ़ चला, कोंपलें फूटती गयीं, माया स्वर्ग सिधार चुकी थीं, पर माँ सी प्रजापती गोतमीका मधुमय स्नेह पा सिद्धार्थ बढ़ चले। आचार्य विश्वामित्रने ज्ञान दिया, शास्त्राचार्यने हस्तलाघव। पर पिताका अन्तर आकुल था। उसमे चोर घुसा था, पुत्रकी भावी प्रव्रज्याका चोर।

वाचिका—उसने तरुणके चारों ओर विलासकी परिखा बाँधी। तीन-तीन महल खड़े किये—शीतकालके, ग्रीष्म और वर्षाके। उनके उद्यानोमे पद्मसर लहराने लगे, नील श्वेत रक्तिम कमल अभिराम डोलने लगे। शरद् और शिशिर, हेमन्त और वसन्त; निदाघ और वर्षा अपने ऋतु-वैभवसे उन महलोंको, उनके पराग भरे उद्यानोंको निहाल करने लगे। मधुसेवी मदिर नारियोंके बीच मादक लावण्यकी धनी थी स्वयं सिद्धार्थकी प्रिया गोपा, दण्डपाणिकी कन्या यशोधरा। पर इस विलासके विपुल कोटमें भी कुमार गौतमके मुखपर चिन्ताके बादल डोल जाते, कंवल कुम्हला उठता। कुमार पुष्करिणीके तीर चले जाते, चुपचाप। जामुनके पेड़ तले जा बैठते, समाधिमें नेत्र मुँद जाते। और वृक्षोंकी छाया लम्बी हो जाती पर जामुनकी छाया निष्कम्प खड़ी रहती।

वाचक—और तभी एक दिन सैन्धव घोड़ोंसे जुड़े रथपर चढ़ सिद्धार्थ जब उद्यानकी ओर राजमार्गपर चले।

[**रथ-गमनकी ध्वनि**]

सिद्धार्थ—सौम्य ! कौन है यह ? इसके तो केश भी औरोंकेसे नहीं ?

सारथी—वृद्ध, कुमार, वृद्ध है यह। सारे जीवधारियोंको इसीकी भाँति एक दिन जराजर्जर होना होता है।

सिद्धार्थ—धिक्कार है ऐसे जन्मको, जरा जिसमें जीवधारीको शिथिल कर देती है ! लौटो, मित्र, फेरो रथ।

सारथी—आयुष्मान् उपवन न चलेंगे ?

सिद्धार्थ—रथ फेर लो, मित्र ! लौटो, निवासको लौटो।

[**रथके लौटनेकी ध्वनि**]

शुद्धो०—[**प्रवेश कर**] सारथि, कुमार इतने शीघ्र कैसे लौटे ?

सारथी—देव, उन्होंने वृद्ध देखा है, और उन्होंने जो वृद्ध देखा तो ससारसे विरक्त हो चले।

शुद्धोदन—मेरा नाश न करो। शीघ्र नृत्यका आयोजन करो। विलासमे रम कर फिर वह संसार तजनेका विचार न करेंगे।

वाचक—राजाने पहरेपर दुहरे संतरी बिठा दिये। दिन बीत चले। और एक दिन उसी रथपर, उसी राजपथ पर—

[**रथकी ध्वनि**]

सिद्धार्थ—मित्र सारथि, कौन है यह जर्जरकाय, स्थूलोदर, पाण्डुगात्र, काँपता, कराहता ?

सारथी—रुग्ण, कुमार, रुग्ण। सभी जीवधारियोंको एक दिन ऐसे ही रोग का शिकार होना होगा।

सिद्धार्थ—धिक्कार है ऐसे जन्मको, रोग जिसमें इतना प्रबल होकर काया-को व्यर्थ कर देता है ! लौटो, मित्र, फेरो रथ।

सारथी—आयुष्मान् उपवन न चलेंगे ?

सिद्धार्थ—रथ फेर लो, मित्र। लौटो, निवासको लौटो।

[**रथकी ध्वनि**]

शुद्धोदन—(**प्रवेशकर सावेग**) सारथि, कुमार इतना शीघ्र कैसे लौटे ?

सारथी—देव, उन्होंने रुग्ण देखा है, और उन्होंने जो रुग्ण देखा तो संसार-से विरक्त हो चले।

शुद्धोदन—मेरा नाश न करो। क्रीड़ाओंका आयोजन करो।

वाचक—और पहरुए दुगुने हो गये, फिर उसी रथपर, उसी राजपथ पर—

[**रथकी ध्वनि**]

सिद्धार्थ—यह कौन, मित्र सारथि, निस्पन्द, निर्जीव ?

सारथी—मृतक, कुमार, मृतक। जीवधारियोंकी अन्तिम गति यही है, मरण।

सिद्धार्थ—धिक्कार है ऐसे जन्मको जिसका अन्त मरण है ! लौटो मित्र, फेरो रथ।

[**स्वल्प विराम**]

वाचक—और शुद्धोदनने जो यह सुना तो पहरुओंकी संख्या दुगुनी कर दी, क्रीड़ाका आयोजन बढ़ा दिया। फिर एक दिन उसी रथपर, उसी राजपथपर—

[**रथकी ध्वनि**]

सिद्धार्थ—मित्र सारथि, यह कौन, दीप्ताननधारी ?

सारथी—भिक्षु, कुमार, परिव्राजक।

सिद्धार्थ—हाँको मित्र, रथ हाँको, शिथिल न करो उसे। उपवन चलो।

वाचक—**ततः शिवं कुसुमितबालपादपं परिभ्रमत्प्रमुदितमत्तकोकिलम्।**
विमानवत्सकमलचारुदीर्घिकं ददर्श तद्वनमिव नन्दनं वनम्॥
उद्यान क्या था, नन्दनवन था, फूले तरुओंपर मत्त कोकिल झूम रहे थे, सुन्दर दीर्घिकाओंमें कमल विकसे थे—विस्मय विस्फारित नेत्रोंसे वहाँ सुन्दरियोंने कुमारका स्वागत किया। विविध चेष्टाओं-

से, ललित पदावलिसे, प्रणय उपहारसे वे कुमारको आकृष्ट करने लगीं। पर कुमार संयमसे डिगे नहीं।

सिद्धार्थ—क्या ये नारियाँ अपने यौवनको क्षणिक नहीं समझतीं? रूपसे उन्मत्त हैं ये, जरा जिसे नष्ट कर देगी। हा धिक्!

[**घुँघरूकी आवाज़**]

एक गणिका—प्रियतम!

सिद्धार्थ—[**अपने आप**] निश्चय ये अपनेको रोगसे आक्रान्त नहीं देखतीं, तभी तो व्याधिभरे जगत्मे ये इस प्रकार प्रसन्न हैं।

दूसरी गणिका—पद्मलोचन!

सिद्धार्थ—[**अपने आप**] सर्वापहारी मृत्युसे अनुद्विग्न होनेसे ही ये स्वस्थ और निरुद्विग्न खेलती है, हँसती है।

नारी स्वर—भक्ति-लेख सम्पन्न करो, अभिराम तरुण, कपोल उत्सुक है, रागरजित करो इन्हे।

सिद्धार्थ—[**अपने आप**] जरा-व्याधि-मृत्युको जानता हुआ कौन बुद्धिमान निरुद्विग्न रह सकता है? प्रगट है कि जैसे एक वृक्षको गिरते देखकर दूसरे वृक्ष शोक नहीं करते, जरा-व्याधिसे पीड़ित जीवों और मृतकोंको देखकर इन्हे भी शोक नहीं होता।

उदायी—[**प्रवेशकर**] कुमार, राजा द्वारा नियुक्त तुम्हारा योग्य मित्र हूँ। प्रेमाकुल कुछ कहना चाहता हूँ।

सिद्धार्थ—बोलो मित्र!

उदायी—मित्र भावसे कहता हूँ, कुमार, नारियोंके प्रति उदारताका यह अभाव तुम जैसे तरुणके योग्य नहीं। विशालाक्ष, हृदय विमुख होते भी अपने रूपके अनुरूप उनके अनुकूल आचरण करो। कामचारिणी इन नारियोंकी उपेक्षा न करो। साहचर्यका उपभोग करो।

सिद्धार्थ—मित्रतासूचक तुम्हारे वचन, तुम्हारे अनुकूल ही हैं, सौम्य। मैं विषयोंकी अवज्ञा नहीं करता, पर जगत्को अनित्य जानकर उसमें मेरा मन रम नहीं पाता। आनन्दपर जरा ताक लगाये बैठी है, विलासपर व्याधि बलवती है, सौन्दर्यपर मृत्युकी छाया डोलती है, कैसे भोगूँ इन्हें मित्र।

उदायी—वयस्य, अनेक ऋषियों-देवताओंने भी इस प्रकारके दुर्लभ भोगोंका अनुधावन किया है और इनकी ओर उनके मनमें मोह उत्पन्न हुआ है किन्तु तुमको तो ये दुर्लभ भोग स्वतः प्राप्त हुए हैं। तुम इनकी उपेक्षा क्यों करते हो ?

सिद्धार्थ—मैं अस्थिर सुखकी चरितार्थताको प्रमाण कैसे मानूँ ? संयतात्माको विषयोंमे आसक्ति नहीं होती। कैसे रमूँ, क्षयकारक विषयोंमें ? मृत्युको अनिवार्य जानते हुए भी जिसके हृदयमें काम उदय होता है, उसकी बुद्धि लोहेकी बनी समझता हूँ, क्योंकि महाभयके होते वह प्रसन्न होता है, रोता नहीं।

[**नेपथ्यमें**]

असंशयं मृत्युरिति प्रजानतो नरस्य रागो हृदि यस्य जायते।
अयोमयी तस्य परैमि चेतनां महाभये रज्यति यो न रोदिति ॥

[**प्रकाशका सूचक संगीत**]

वाचक—अपने प्रसाधनको इस प्रकार व्यर्थ जान विहार-भूमिकी प्रमदाओंने अपने मंडनकुसुम मसल डाले, फिर प्रणय-चेष्टाओंके निष्फल होनेपर कामका निग्रह करतीं, भग्न मनोरथ होकर नगरको लौट गईं।

ततो वृथाधारितभूषणस्रजः कलागुणैश्च प्रणयैश्च निष्फलैः।
स्व एव भावे विनिगृह्य मन्मथं पुरं ययुर्भग्नमनोरथाः स्त्रियः ॥

दृश्य ३

वाचक—विहार-भूमिमे दिन भर विनोदकर सिद्धार्थने पुष्करिणीमें स्नान किया। फिर विविध प्रसाधन अलंकरणोंसे युक्त हो उत्तम रथपर चढ़ वे जैसे ही महलोंकी ओर चले, दासी आ पहुँची।

दासी—[**उल्लासभरे शब्दोंमें**] आर्य, शुभ हुआ! तनय!

सिद्धार्थ—अशुभ हुआ, राहुल! बन्धन उत्पन्न हुआ!

वाचक—राजाने नवजातका नाम राहुलकुमार रख दिया। उधर क्षत्रिय कन्या किसा गोमतीने अपने प्रासादसे नगरकी परिक्रमा करते बोधिसत्त्वकी शोभा देखी। फिर हर्ष गद्गद उसने उदान कहा—

निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी यस्सायं ईदिसो पती॥
[**निदान कथा**]

परम शान्त है वह माता, परम शान्त है वह पिता।
परम शान्त है वह नारी, जिसका यह पति है!

सिद्धार्थ—सच कहा इसने। परम शान्ति खोजनी है मुझे, निर्वाण पद पाना है। लो, सारथि, कल्याणी किसा गोमतीको मेरा यह मुक्ताहार दो। कहो उससे, फले उसकी वाणी। [**मुक्ताहार देता है**] यह हार उसकी गुरु-दक्षिणा हो। चला मैं अब विजनकी ओर।

वाचक—जरा-मरणके विनाशके लिए वन जानेकी इच्छा करनेवाले बोधिसत्त्वने अनिच्छासे महलोंमें प्रवेश किया, जैसे बनैला हाथी पालतू हाथियोंको घेरेमें करता है। फिर पिताके समीप जा वह विनीत हो बोला—

सिद्धार्थ—राजन्, मोक्षके हेतु प्रव्रज्या चाहता हूँ, कृपया आज्ञा करें।

शुद्धोदन—[**आँसुओंसे रुकती काँपती आवाज**] हे तात, रोको इस

बुद्धिको। यह समय तुम्हारे धर्मकी शरण जानेका नहीं। यौवनका सुख भोग लेनेसे तपोवन सुखद होता है।

सिद्धार्थ—तपोवनकी शरण न जाऊँ, राजन्, जो चार बातोंमे श्रीमान् मेरे प्रतिभू हों—मेरे जीवनपर मृत्युका अधिकार न हो, रोग मेरे स्वास्थ्यका हरण न करे, जरा मेरे यौवनको विकृत न करे, न विपत्ति मेरी इस सम्पत्तिको हरे।

शुद्धोदन—[**कुछ चिढ़कर पर कातर स्वरमें**] इस अत्यन्त बढ़ी हुई बुद्धिको तजो, क्रमरहित व्यवसायका उपहास होता है।

वाचक—बोधिसत्त्व अपने महलोंमें गया। नाना अलङ्कारोंसे विभूषित देवनारियों-सी सुन्दरियोंने वाद्य-नृत्यसे उसका प्रसादन आरम्भ किया। सुगन्धित दीप-वृक्ष निर्वात बल रहा था, कालागुरु और धूपके धुएँसे प्रासाद गमक रहा था। कुमार कञ्चन-शैयापर जा सोया।

नर्तकी १—[**दूसरीसे**] कुमार निद्रागत हुए, आ, सो रहें अब।

नर्तकी २—आ, निद्रा नादसे कोमल होती है, निस्पन्द सोने दे इन्हें, आ।

[**सो जाती है**]

[**सङ्गीत द्रुततर। निर्वेदसूचक सङ्गीत**]

सिद्धार्थ—[**जागकर पलंगपर बैठता हुआ**] आह! सौन्दर्य कितना कुरूप है। निद्रागत लावण्य कितना बीभत्स। निरावृत शरीर जितना ही स्वादु है उतना ही घिनौना। अधर अमृत रसके चषक कहलाते हैं, उनसे वहती रालको कामुक नहीं देख पाता। मदिर अवलोकन कितना आकर्षक होता है, कितना मादक, पर उसका निद्रागत रूप कितना अभोग्य है! मण्डनगत शरीर कितनो छलना है, प्रकृत कितना अशोभन! चारों ओर अस्तव्यस्त पड़ी इन नारियोंमें से प्रत्येक किसी-न-किसीके हृदयमें आँधी उठा देती है, पर इनको इस स्थितिमे कोई देखे! आह कष्ट, हा, शोक, आज

ही महाभिनिष्क्रमण करना होगा। [**पलंगसे उठकर द्वारके पास जाकर**] कौन है ?

छन्दक—मैं हूँ, आर्य, छन्दक।

सिद्धार्थ—महाभिनिष्क्रमण करूँगा। अश्व प्रस्तुत करो।

छन्दक—अच्छा, देव।

[**घोड़ेके हिनहिनानेकी आवाज**]

[**प्रयाणसूचक सङ्गीत**]

वाचक—बोधिसत्त्व चला। चलते हुए उसने एक बार शयनकक्षमें झाँका। दासियाँ, सखियाँ जहाँ-तहाँ पड़ी थीं। वस्त्र उनके खुले थे, अस्तव्यस्त। कुसुम-कोमल शैयापर बलती दीपशिखा-सी सोती थी वह कोलिय दण्डपाणिकी गोपा, कपिलवस्तुके शाक्य प्रासादकी कौमुदी यशोधरा, शिशुके मस्तकपर अभयका हाथ रखे, आराध्यको स्वप्नमें सोचती, रोकती। न रुका स्वजन। मार्तण्ड सरीखा शिशु एक बार जनकके अन्तरमे चमका। खींचा उसने उसे सहस्र करोंसे। पर स्वजन रुका नहीं। संसारका स्वजन था वह, चल पड़ा। रोते विश्वके आँसू पोंछने। यह महाभिनिष्क्रमण था। कपिलवस्तु जागा। महामणि खो चुकी थी।

सिद्धार्थ—कन्थक, उड़ चल। बुद्ध बननेमें सहायक हो। आज तू मुझे एक रात तार दे। मैं सारे लोकको तारूँगा, तुझे भी।

[**घोड़ेके हिनहिनानेकी आवाज**]

जाना, कन्थक, ले चलेगा तू मुझे, शाक्य भूमिके परे ? [**छन्दकसे**] और छन्दक !

छन्दक—आज्ञा, स्वामी।

सिद्धार्थ—साहस, छन्दक, साहस कर। भवबन्धनके काटनेमें सहायक हो,

तेरे बन्धन भी मैं काटूँगा। उड़ चल, चला आ, कन्थककी लीक-लीक।

छन्दक—दिशाओंके परे, स्वामी। जब तक तनमें साँस रहेगी कन्थककी लीक न छोड़ूँगा, न स्वामीकी छाया।

एक धीमी भारी आवाज़—मित्र, सिद्धार्थ, मत निकलो। आजसे सातवें दिन तुम्हारे लिए चक्ररत्न प्रकट होगा। दो हज़ार छोटे द्वीपोंके साथ चारों महाद्वीपोंपर राज करोगे। लौटो, मित्र।

सिद्धार्थ—कौन ? यह किसकी आवाज़ है ? कौन हो तुम भला ?

आवाज़—वशवर्ती हूँ।

सिद्धार्थ—जाना, काम, जाना, मार हो तुम। जानता हूँ तुम्हें। बार-बार तुमने मुझे बहकाया है, बार-बार। तुम्हारा जाल मैं भेद गया हूँ। फिर भेद जाऊँगा। जाना, मार, जाना, तुम्हें, पर तुम भी जान लो कि मुझे चक्ररत्नसे, राजसे, काम नहीं। मैं तो साहसिक लोक धातुओंको विनिन्दित कर बुद्ध बनूँगा।

मार—[**भारी, दूर हटती आवाज़**] अच्छा जा, चला जा। पर याद रख, जब कभी तेरे मनमें कामनाजनित वितर्क, द्रोहजनित वितर्क, हिंसाजनित बितर्क उत्पन्न होगा, तब मैं तुझे समझूँगा।

वाचक—**अथ स विमलपङ्कजायताक्षः पुरमवलोक्य ननाद सिंहनादम्। जननमरणयोरदृष्टपारो न पुरमहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा॥**

तब विमल कमलोंके समान विशाल नेत्रों वाले कुमारने नगरकी ओर देख कर सिंहनाद किया—

"जन्म मरणका अन्त देखे बिना कपिलवस्तु नामके इस नगरमें फिर प्रवेश न करूँगा!"

शाक्य और कोलिय छूट गये, रामग्राम भी छूटा। अनोमाके तट-पर वह महायात्री जा खड़ा हुआ।

दृश्य—४

सिद्धार्थ—छन्दक, इस नदीका नाम क्या है ?

छन्दक—अनोमा, देव ।

सिद्धार्थ—हमारी प्रव्रज्या भी अनोमा होगी, महत्त्वकी, जैसी यह नदी है ।

[**फिर घोड़ेको एड़ मार धारा लाँघता हुआ**]

सौम्य छन्दक, तू मेरे आभूषणों और कन्थकको लेकर जा, मैं प्रव्रजित होऊँगा ।

छन्दक—प्रव्रजित मैं भी होऊँगा, देव ।

सिद्धार्थ—तुझे प्रव्रज्या नहीं मिल सकती, तू लौट जा ।

छन्दक—देव !

सिद्धार्थ—नहीं मिल सकती प्रव्रज्या तुझे, मैं कहता हूँ, नहीं मिल सकती ।

[**छन्दकका लम्बी साँस लेना**]

सिद्धार्थ—[**अपने आप**] मेरे ये केश श्रमणके योग्य नहीं हैं । और बोधिसत्त्वके केश काटने योग्य कोई दूसरा है भी नहीं । इससे मैं अपने ही आप इन्हे खड्गसे काटूँगा ।

वाचक—फिर दाहिने हाथमें खड्ग ले बायें हाथसे मुकुट सहित केश पकड़ बोधिसत्त्वने काट डाले । शेष दो अंगुल भरके केश दाहिनी ओरसे घूम सिरसे चिपक गये । जीवन भर फिर वे वैसे ही बने रहे ।

सिद्धार्थ—[**आकाशमें मुकुट सहित केश चूड़ा फेंकते हुए**] लो, देवताओ, सम्हालो इन्हें । तुमने मुझे बुद्ध होनेके लिए तुषित स्वर्गसे पृथ्वी पर भेजा था, अब सम्हालो इन्हें । यदि मुझे बुद्ध होना हो तो ये अधरमें टँग जाय, नहीं भूमिपर गिर पड़ें ।

छन्दक—आश्चर्य ! आश्चर्य ! केश-गुच्छ तो अधरमें टँग गये । धन्य, देव, धन्य !

सिद्धार्थ—आश्चर्य कुछ नहीं, छन्दक। बोधिसत्त्वके लिए कुछ भी असम्भव नहीं।

छन्दक—धन्य, बोधिसत्त्व !

सिद्धार्थ—देख, छन्दक, यह काशीके बहुमूल्य दुकूल भिक्षुके योग्य नहीं। योगमे युक्त भिक्षुके त्रिचीवर, भिक्षापात्र, छुरा, सुई, कायबन्धन और पानी छाननेका वस्त्र, बस यही आठ वस्तुएँ होती हैं। सो तू ये मेरे पहलेके वस्त्राभूषण ले।

छन्दक—नहीं देव, मै इन्हे····

सिद्धार्थ—ले, छन्दक, ले इन्हे। तर्क न कर।

[**छन्दक लम्बी साँस भरकर वस्त्राभूषण ले लेता है।**]

सिद्धार्थ—छन्दक ! मेरे वचनसे माता-पिताको आरोग्य कहना। और सौम्य, गरुड़ समान वेगवान् इस घोड़ेका अनुसरणकर मेरे प्रति तुमने भक्ति और पराक्रम दिखाये। यद्यपि अन्यमनस्क हूँ परन्तु तुम्हारे इस स्वामिस्नेहने बरबस मेरा हृदय हरण कर लिया है। तुमने मेरा बड़ा प्रिय किया। आभार मानता हूँ। अब अश्व लेकर लौट जाओ। मैं अभीष्ट स्थलको पहुँच गया।

छन्दक—देव !

सिद्धार्थ—सुनो छन्दक, राजाको बार-बार प्रणाम कर निवेदन करना—जरा और मरणके विनाशके लिए मैंने तपोवनमें प्रवेश किया है, निश्चय स्वर्गकी तृष्णासे नहीं, स्नेहके अभावसे नहीं, क्रोधसे नहीं। वियोग निश्चित है। पर स्वजनसे वियोग न हो, इसके मात्र उपाय मोक्षकी खोजमें हूँ। मुझे याद न करें।

छन्दक—देव, नदी पंकमें फँसे हाथीके समान मेरा मर्म मथ रहा है। आपका निश्चय सुनकर जो मैं घोड़ा ले आया वह भी दैवने मुझसे बलात् कराया। सुमन्तने जैसे राघवको वनमें छोड़ा था, वैसे ही

आपको तजकर जाना मेरे लिए असह्य हो रहा है। नगरको कैसे जाऊँ ?

[**घोड़ेके करुण हिनहिनानेका स्वर**]

छन्दक—हा, कन्थक ! रो नहीं, कन्थक ।

सिद्धार्थ—(**घोड़ेको प्यारसे छूते हुए**) कन्थक, तुमने मुझे तार दिया। जाओ, तुम्हारा शील मानवीय है। जाओ छन्दक ! जाओ कन्थक !

[**छन्दकका सिद्धार्थकी परिक्रमा कर घोड़ेको ले जाना**]

[**घोड़ेकी टाप**]

सिद्धार्थ—गोपे, जानता हूँ तुम्हारे मर्मकी पीड़ा। उसी पीड़ाके शमनके लिए काषाय लिया है, कि तुम्हारी जराविगलित काया स्वयं तुम्हें घिनौनी न हो जाय, कि तुम्हारा वत्स जरा-मरणका शिकार न बन जाय। तुम्हारे लिए, तुम्हारेसे ही असंख्य वत्सोंके लिए विजनमें जाता हूँ। तपसे काया डाहूँगा, बोधिके लिए ज्ञान गुनूँगा, कि लौटूँ तो दुःखके शमनका उपाय लेकर, जराकी औषधि लेकर, अमरता लेकर।

[**देवताओंकी आवाज़ धन्य ! धन्य !!**]

और दिशाओ, सुनो। परिकर बाँधकर प्रासादसे निकला हूँ, प्रव्रज्यासे जो निकलूँगा तो केवल निर्वाणमें प्रवेश करनेके लिए। और, देवताओ, तुम भी सुनो ! यदि जन्म-मरणके अन्तका उपाय न ढूँढ़ सका, जनहित, जनसुखके साधन प्रस्तुत न कर सका, सबुद्ध न हो सका, तो देवो, नगरको न लौटूँगा, न लौटूँगा !

नेपथ्यसे—"**नाहं प्रवेसि कपिलस्य पुरं अप्राप्य जातिमरणान्तकरं**
स्थानासनं शयनं चक्रमेणं न करिष्य हं कपिलवस्तुमुखं।
यावन्न लब्धवरबोधिमया अजरामरं पदवरं ह्यमृतं॥"

●

रूपमती और बाज़बहादुर

दृश्य १

[उज्जैनीमें सिप्रा तटका प्रासाद। नदीकी ओर खुलनेवाली खिड़कियाँ। दूसरी ओर फैला बरामदा, जिसमें लटकते पिंजड़ोंमें चहकते पक्षी—शुकसारिकाएँ। नीचे नज़रबाग़।

चबूतरेसे हल्के उठता प्रभातीका स्वर। बाजोंके सुरमें मिली मानव कण्ठकी हल्की ध्वनि। सामने दूर क्षितिजसे उठता सूरज-का लाल गोला। रूपमती अभी सो रही है। नदीके ऊपरसे बहती गीली बयार धीरे-धीरे रूपमतीके जहाँ-तहाँ खुले अंगोंको परसती है, छनकर आती लाल धूपके स्पर्शसे चेहरा लाल कमल सा खिल उठता है।]

रूपमती—[**अलसाई पलकें उठाती हुई, करवट बदलती**] हाय राम! इतनी धूप निकल आई?

मंजरी—सो जा, सो जा, रूपा, पिछली रात देरसे सोई थी ना!

रूप०—[**अलसाती हुई**] अरी, अब क्या सोऊँ? कितना तो दिन चढ़ आया। और देख—

मंजरी—अरी, सो जा, अभी पर्दे खींचे देती हूँ।

[**उठती है**]

रूप०—[**अँगड़ाती हुई पड़ी-पड़ी**] दिनकी ललक है, कहीं पर्दोंसे ढकती है, मंजरी? और सूरजकी हज़ारों किरनें!

मंजरी—सूरज हज़ार हाथों तुम्हे भेंट रहा है, रानी, जभी तो पुलक रही हो, अनारकी डहकती कली जैसे खुल गई है।

रूप०—अच्छा, अच्छा, बन्दकर अपनी कविता। [**सिर बिस्तरसे ज़रा उठाती उठाती**] भला तू कर क्या रही है? और बेला कहाँ है?

मंजरी—पान लगा रही थी। (**पास आकर पान देती हुई**] यह लो, यह गिलौरी। बेला पछियोंको दाना दे रही है। [**जोरसे बाहर-की ओर मुँह करके**] अरी, बेला ! ओ बेला ! कहाँ मर गई !

बेला [**दूरसे**]—आई, मंजरी ! [**आती है**]

रूप०—बेला, ले तू मेरा पान खा ले। मुझे अलकस लग रही है। ले, लेले [**हाथका पान बढ़ाती है**]

मंजरी—ज़बान तो कैंची सी चलाये जा रही हैं और मुँह चलाते अलकस लग रही है !

रूपमती—ले, ले बेला, पान यह। भला कर क्या रही थी ?

बेला—[**पान लेकर मुँहमें डालती हुई**] ज़रा पंछियोंको चारा बाँट रही थी। पर कुछ पूछ मत रानी। निगोड़ी मैनीने तो आज गज़ब कर दिया।

रूप० और मंजरी [**एक साथ उत्सुकतासे**]—क्या हुआ ? क्या हुआ ?

बेला—अरी, बस क्या कहूँ। निगोड़ीके ठेस देखकर मैं तो दंग रह गई।

मंजरी—अरी कुछ बता तो। तेरे नखरे किससे कम है भला ?

बेला—तुझसे। जब मानसिंह आता है तब कैसे भवें नचानी है, जैसे····

रूप०—ले, अब तू ही लहक उठी।

बेला—देखो, रानी, यह तुम्हारी मैनी है न ?

रूप०—सारिका न ?

बेला—हाँ, सारिका, ऐसा हुआ····

मंजरी—तूने तो मैना-मैनी एकमे कर दिया था न ?

बेला—[**जल्दी जल्दी**] हाँ। ऐसा हुआ कि अभी पड़ी हुई थी, आँख खुल गई थी, कि मैनीने रोज़की तरह पुकारा—'जागो रे जागो ! जागो रे जागो !' पहले तो मैंने कान न दिया। पर जब मैनीने 'जागो रे जागो !' की रट लगा दी तब मैं उठी। दाना लिये जो उधर पहुँची तो देखती क्या हूँ कि मैनी आज रोज़की तरह

कमरेकी ओर नहीं देखती, सामनेके पिंजड़ेकी ओर मुँह किये जैसे अपने नरको पुकार रही है।

रूप०—अच्छा !

मंजरी—और नर ?

बेला—और नर ? नरकी न पूछो। बावला, जैसे बावला हुआ जा रहा है। पंख फड़फड़ाता पिंजड़ेके द्वारपर बार-बार चोंच ठकराये जाय, टकराये जाय। ज़रा सी की चोंच और चाँदीका पिंजड़ा।

मंजरी—बेचारा !

रूप०—फिर ? फिर ?

बेला—फिर मैंने दोनोंको एकमे कर दिया।

रूप०—एकमें कर दिया ?

बेला—हाँ, नरको भी मैनी वाले पिंजड़ेमें जा डाला।

मंजरी—तब ?

बेला—मैनी सहसा चुप हो गई। उसकी ओरसे मुँह फेर लिया।

रूप०—अच्छा, देरसे पुकारती रही थी न।

बेला—देरसे पुकारती रही थी। पर उसका दिमाग़ तो देखो—चुप कर गई। और बेचारा नर बार-बार उसकी गरदनपर अपना सिर, अपनी गरदन रखे, अपनी चोंचका चारा उसकी चोंचमें देना चाहे, पर मैनी कि कोप किये हो जाय, कोप किये ही जाय।

मंजरी—अरे यह तो आदमीकी तरह !

बेला—आदमीकी तरह, मंजरी, बिलकुल आदमीकी तरह। मैना इस बग़लसे उस बग़ल जाय, उस बग़लसे इस बग़ल आये, पर मैनी जैसे मन मारे, सुध बुध खोये, चोंच लटकाये चुप।

मंजरी—निगोड़ी !

बेला—निगोड़ी सुनती ही नहीं।

रूप०—अरे इतना मान तो मानसिंहसे मंजरी तक नहीं करती, बेला।

[**रूपमती बेला खिलखिला उठती हैं**]

मंजरी—अच्छा ! अच्छा देखूँगी। अरे तू तो अपने रसियाको वो वो नाच नचायेगी कि वही जानेगा। ज़रा डोरा पड़ तो जाने दे।

रूप०—हाँ, बेला, फिर क्या हुआ ?

बेला—फिर क्या होता, रानी ? मैनी कोप किये बैठी है और मैना वैसे ही उसके चारों ओर मंडरा रहा है।

रूप०—चल तो देखें जरा।

[**तीनों बरामदेमें जाती हैं। मैनी वैसे ही कोप किये है, मैना उसे जैसे मना रहा है।**]

रूप और मंजरी—हाय राम।

बेला—देखो तो ज़रा निगोड़ीको।

रूप०—[**मैनीसे**] सारिके, मानो न—यह तुम्हारा चहेता तुम्हें कितना मना रहा है, कितना बेचारा है यह !

[**मैनी फिर जाती है, मैनेकी ओर पूँछ कर लेती है**]

तीनों—अरे, वाह रे तुम्हारे नखरे !

मंजरी—क्या लेगी चुनरी ? अँगिया ?

बेला—नौलखा हार !

रूप०—फिर मानसिंहसे माँग !

मंजरी—चल चल। बडी आई नौलखा हार देने।

रूप०—अच्छा बेला, एक काम कर, मैनावाला वह ख़ाली पिंजड़ा तो ज़रा उठा।

[**पिंजड़ा उठाकर बेला रूपमतीके हाथमें देती है। रूपमती दोनों पिंजड़ोंके मुँह एक दूसरेसे लगा देती है। पुचकारकर मैनाको अपने पिंजड़ेमें बुलाती है। मैना नहीं जाता, फिर हाथ की उँगलियोंके सहारे उसे उसके पिंजड़ेमें खींच लेती है।**]

मंजरी—अच्छा, यह तो खूब सोचा।

बेला—[**मैनीसे**] ले अब, चला नैनतीर ! कर मान अब ज़रा।

रूप०—अरी बावली, मानका नाम न ले, वरना कहीं मंजरीके भी न चढ़ जाय नामका जादू।

मंजरी—[**मुँह चिढ़ा कर दुहराती हुई**] हाँ-हाँ, कहीं मंजरीके भी न चढ़ जाय नामका जादू !

बेला—वह देख, उधर !

[**सब मैनीको देखती हैं। मैनी अपने पिंजड़ेके दरवाजेपर चोंच बरसाये जा रही है। टक-टककी आवाज**]

मंजरी—[**प्यारसे**] दे दो, रूपा, उसे उसका चहेता। बड़ा उपकार मानेगी।

रूप०—हाँ, हाँ, तूने जो बड़ा उपकार माना ! तुझे भी तो कुछ दिया था। अच्छा देखें।

[**रूपमती मैनाको फिर मैनीके पिंजड़ेमें कर देती है। मैनी अबकी लपक कर मैनाकी गरदनपर अपना सिर रख देती है।**]

बेला—देखा, कैसे सिर उसकी गरदनमें गड़ाये जा रही है ?

मंजरी—या खुदा, मुराद बार आये, हमारी रानी रूपकी भी !

रूप०—अच्छा ! अच्छा ! यह तो सलीमशाह बन गई !

मंजरी—पर इस कलूटीके नखरे तो देखो !

बेला—अरे कलजुग है न ! बस मानुसका तनभर नहीं पाया है, वरना आदमीसे पंछी कम क्या है ?

रूप०—कलजुग नहीं, बेला, वसन्त जो है, पराग जो झर रही है ! बौराये आमोंको नहीं देखती क्या ?

[**अमराइयोंमें सहसा कोयल कूक उठती है···कू ऊ . ऊ ! कू. ऊ. ऊ !**]

बेला—ले कूक उठी पापिन, मंजरीकी दुखदायी सौत बौराये आमोंकी झुरमुटसे ।

[मंजरी गा उठती है—]

मंजरी—

मनवाँ क बाती सनेह क सींचल
लहकि बरे मधु रतिया,
कोइलि सौति सतुर बनि टेरे
सालि उठे नित छतिया,
राति विजन मन जियरा डोले
कसकि उठे पिय बतिया,
अमवाँ की डरियाँ भँवर गुँजारें
मदन करे धरहरिया,
नेह गरे निसि बासर अँखियन
डहकि डहकि लिखूँ पतिया,
मदन मोहाइल कान्ह कोंहाइल
कैसे कटे दिन रतिया ?
डगर डगर बन बिकसत आवे
जगर मगर करे रतिया,
आव सजन मधु मास सेराइल
दरस देखाव सुरतिया ।

[फेड आउट]

दृश्य २

[मांडूका महल। झीलसे उठती हवा बारहदरीका कोना-कोना भर देती है। मालवाका सुल्तान बाजबहादुर गावतकियेके सहारे बैठा अपने बचपनके दोस्त ख़फ़ीसे बयान करता जा रहा है—]

बाज—इतनी रूपसी, ख़फ़ी, कि हूरें शरमा जायँ, चितेरा अपना भाग सराहे !

ख़फ़ी—जहाँपनाहका हरम इन्दरका अखाड़ा है, आलमगीर।

बाज—सूना है, ख़फ़ी, मेरा हरम सूना है। पतझड़की तरह सूना, मेह बरस जानेपर आसमानकी तरह उदास। काटता है वह हरम, ख़फ़ी।

ख़फ़ी—ज़ाहिर है, आलमगीर, वरना जन्नतमें इस क़दर मनहूसियत छाई रहती !

बाज—जन्नत ! जन्नत यहाँ कहाँ, ख़फ़ी ? जन्नत तो वह ज़मीन है जिसपर रूपमतीके पैर पड़ते हैं। काश कि वह यह दर्द जान पाती, जान पाती कि बाज़की दुनियामें ज़लज़ला आ गया है, कि उसके दिल-पर बिजलियाँ टूट रही हैं !

ख़फ़ी—मनपर क़ाबू करें, जहाँपनाह।

बाज—[**सरककर ख़फ़ीका हाथ पकड़ता हुआ**] मनपर क़ाबू क्यों-कर करूँ, दोस्त ? मनमें तो आँधियाँ चल रही हैं, तूफ़ान अँगड़ा रहा है। कैसे करूँ क़ाबू मनपर ? कर न कोई हिकमत, पखेरू तूफ़ानसे पनाह ले।

ख़फ़ी—हिकमतकी क्या कभी, शाहआलम ?····बाज़के पंजोंकी बिसात बड़ी है।

बाज़—बाज़के पंजे अब न खुलेंगे, ख़फ़ी। उनके ख़ूनी नाख़ून गिर पड़े हैं। तुमने कभी प्यार नहीं किया, मेरे दोस्त, न जाना वह दर्द, ताक़त जिसमें दोजानू हो जाती है, तलवार बेकार। मैंने ख़ुद, लगता है, कभी मुहब्बत नहीं की, बस अस्मत लूटी है, आज ख़ुद लुटा जा रहा हूँ। [**लंबी आह**]

ख़फ़ी—इतने बेकरार न हों, जहाँपनाह। बन्दा जाता है और ख़ुदाने चाहा तो हुज़ूरकी मुराद पूरी होते देर न लगेगी।

बाज़—सुनो, ख़फ़ी। समझी नहीं तुमने हक़ीकत। ताक़त या फ़रेबसे नहीं, रूपको प्यारसे जीतूँगा, दर्दसे। पर काश वह जान पाती मेरा जलना, जान पाती कि बाज़के तेवर उन भवोंके शिकार हो गये हैं जिनमें सिप्राकी लहरियोंके बल हैं, कमानकी लचक है, खंजरकी ख़म है!

ख़फ़ी—मुहब्बत एक मुसीबत है, आलमगीर, और शायरी आगमें ईंधनका काम करती है।

बाज़—सही, दोस्त। शायर न होता तो शायद इतना बेपनाह न होता। शायरी जिस्मका पोर-पोर रोआँ-रोआँ खोल देती है। अदनी-से-अदनी बात समुन्दरकी तरह यादमें उमड़ आती है। उमड़कर दिलको बेक़ाबू कर लेती है। एक-एक अदा रूपमतीकी याद है, ख़फ़ी, एक-एक अन्दाज़पर मन लट्टू है। सुनो, जाते-जाते जो उसने आदाब किया, भवोंको झुकाकर जो कमान खींचा तो तीर बाज़की ज़रा-सी जानको चीरता चला गया। कैसे भूलूँ उस शक्लको, ख़फ़ी?

ख़फ़ी—जहाँपनाह, समझ नहीं आता क्या करूँ, इस हूरको किस तरह हुज़ूरके हरममें ला बिठाऊँ। पर क्या आलमगीरको ख़ुद अपने रूपका असर नहीं मालूम? क्या अजब जो उसने भी रूपमतीपर अपना जादू डाल दिया हो। आख़िर बाज़का वह जादू आज

कितनी ही अस्मतकी धनी लाजवन्ती ख़ातूनोंके हियेका भेद बन गया है। फिर वह तो····

बाज़—अजब नहीं, ख़फ़ी। उसका ·लौट-लौटकर देखना कुछ हद तक इसका सबूत भी है। पर जिस बातकी ओर तुम्हारा इशारा है उसका भरम छोड़ दो, मेरे दोस्त। 'पातुरकी बेटी' ही कहना चाहते हो ना, ख़फ़ी ? है पातुरकी बेटी वह रूपमती, पर मानो मेरी बात—बड़ी-बड़ी पाकदामन ख़ातूनोंसे कहीं ज़ियादा पाकदामन, उनसे कहीं बढ़कर अस्मतवाली। क्या सुनी तुमने कभी कोई ऐसी बात जो उसके आबरूमे बट्टा लगाये ? भूल गये गुजरातके सलावत का क़िस्सा ?

ख़फ़ी—नहीं, जहाँपनाह, कभी कोई ऐसी बात नहीं सुनी जो उसके आबरू को बट्टा लगाये और सलावतकी मुँहकी खाई तो हिन्दुस्तान और दकनका मज़ाक बन गयी है, कौन नहीं जानता उसे ? पर करूँ क्या, यह समझमें नहीं आता।

बाज़—एक काम करो····दर्दका इज़हार ख़तमे करता हूँ, उज्जैन क़ासिद भेजो।

ख़फ़ी—जैसी इर्शाद हुज़ूरकी।

[**बाज़बहादुर लिखता है, फिर धीरे-धीरे पढ़ता है—**]

उड़त गगन पाखी प्रवर, लग्यौ रूप बिसबान।
पीर बिकल नैना सजल, तरपत बाज़ परान॥
रैन भई पीरा बढ़ी, गुनमति कहो बखान।
कस बैरी बिरहा कटे, कस निसि होय बिहान ?

[**फ़ेड आउट**]

दृश्य ३

[**सिप्रा तटका रूपमतीका प्रासाद। नजरबाग़का बारजा। सिप्रा कलकल बह रही है। संध्या पच्छिमी आकाशमें कमजोर किरनों वाले सूरजके लाल गोलेको उठाये हुए है। रूपमती सखियों सहित बैठी है। हवा नदीके जलको परसती मन्द शीतल बह रही है पर आषाढ़की गर्मीके लिए वह क़ाफी शीतल नहीं है। इससे मंजरी गुलाबजलसे भींगा ख़सका पंखा उसे झल रही है। बेला हालकी नहाई रूपमतीके लम्बे काले चमकते घुँघराले भींगे बालोंको धूप-अगुरुके धुएँसे सुखा रही है। तीनों चुप हैं।**]

रूप०—[**धीरे-धीरे**] सिप्रे, तुम्हारे जलने कितनोंके सुरत शिथिल गात शीतल किये हैं, तुम्हारे तटके कुंजोंने कितनी ही निदाघतपी प्रमदाओंका क्लेश हरा है, अपनी इस संगिनीका क्लेश न मेटोगी ?

[**मंजरी और बेला चुपचाप आँसू ढालती हैं। बेला सिसक उठती है।**]

रूप०—जीवन बहता है तुम्हारे अकमें, संगिनि। तुम्हारी ही लहरोंपर चढ़कर मधुके उत्सवमें राजा आया था। कुछ कर गया मायावी। कितना मदिर था उसका अवलोकन, कितना मधुर था उसका दर्शन, कितना मादक होगा उसका विलास !

मंजरी—रूपे, विश्वास न खो। आयेगा राजा। प्रेमका धनी है वह, रूपका रसिया। धीरज धर, रानी।

रूप०—विश्वास कैसा, मंजरी ? उस नित्य कँवल लोढ़ने वाले हंसका विश्वास क्या ? रंग-रगके फूलोंकी पंखड़ियाँ बेधनेवाले, पराग रजसे बौराये उस भ्रमरका विश्वास क्या ? मांडूकी झीलके

कमलवनमें अभिराम विहरनेवाले मदमत्त गयन्दका विश्वास कैसा, भोली मंजरी ? जिसके रनिवासमें उर्वशीके शृंगार-कुसुम उपेक्षाके उच्छ्वासोंसे कुम्हला जाते हैं, रंभाका मान कभी खंडित नहीं होता, मेनकाका सौरभ बासी पड़ जाया करता है, उसका, कहती है, विश्वास करूँ ? कहो न, मंजरी, उठ आये डूबता धधकता आगका वह गोला अस्ताचलके पीछेसे, कहो सिप्राकी धारा मुड़कर पीछेको बहने लग जाय, शायद विश्वास कर लूं पर कि वह छलिया सुलतान लौटेगा, विश्वास नहीं होता । [**उच्छ्वास, बेला सिसकती जाती है ।**]

मंजरी—नहीं, नहीं, रूपा, जानो वसन्त जैसे अपनी कोंपलोंके साथ लौटता है, शरद् जैसे अपने विलासके साथ लौटता है, निदाघ जैसे मदालस लिये लौटता है, वर्षा जैसे बीरबहूटियाँ लिये । लौटेगा बाँका सुलतान भी वैसे ही । गाँव नगर आज गूँज रहे हैं इस सवादसे कि भौंरा कँवलमें बँध गया है, कि भौंरा बाज़बहादुर है, कि कंबल रूपमती है । दिनोंकी देर है, रानी । धीर धर, सकट कटेगा ।

रूप०—कहाँ भटक रही है, मंजरी, किस सपन देशमें खोई है भला ? पुरुषका विश्वास कैसा, फिर ऐसे पुरुषका जिसके मनोरथोंने कोई सीमा न जानी ? जिसके पिंजड़ेमें पंछी अपने-आप जा बैठा ? जिसके जालमें मृगी स्वतः बँध गई ? [**फिर बेलासे**] और देख बेला, बन्द कर यह शृङ्गार-मण्डन । एक आँख मुझे नहीं सुहाता यह । वेशका फल प्रियके उसे आँख भर देख लेनेमे है । [**मंजरीसे**] और मंजरी, मुझे उस गाँव-नगरमें गूँजते संवादका भी कुछ भरोसा नहीं ।

बेला—महाकालका भरोसा कर, रूपा । ब्रह्मा भालपर लिखते हैं महाकाल उसे काटते हैं, रानी । तुम्हारा क्लेश भी काटेंगे भवानी-

पति। पूरेंगे तुम्हारा भी मनोरथ, वह औघड़ वरदानी। माँगो उनसे।

रूप०—माँगती हूँ महाकालसे। हे घट-घटव्यापी महाकाल, लहर समेटो अपनी, दे दो अपना राग मंगल मुझे। सदा तुमने भक्तको चीन्हा है, सतीका तुमने मान रखा है। जो तो रूपमतीने पातुरकी बेटी होकर भी कभी अपने हियेमे पुरुषकी छाया डोलने दी हो तो उसका हिया झुलस जाय, पर जो उसमें उसने बाज़बहादुरकी अकेली मूरत पधराई हो तो, हे देवता, उसके हियेमे तुम पैठो, कि चकवा-सा वह साजन पुरइनकी पात हटाता चकवीसे आ मिले। उसके घटमें व्यापो नाथ !

[घोड़ेकी टापोंकी आवाज़। सहसा रुकना, सबका चौंकना।]

[बेला ! ओ बेला !]

[बेला 'आई !' कहती दौड़ी आती है। फिर छन भरमें भागती हँसती आती है। उसके हाथमें बन्द लिफ़ाफ़ा है। दोनों उत्सुक उसे देखती हैं।]

बेला—**[हाँफती हुई]** क्या दोगी, रूपा ? बता दो, क्या दोगी ?

मंजरी—लो, रूपा, सुन लिया महाकालने। सिप्रा मैया ने सुधि ली।

[रूपमती लिफ़ाफ़ा खोलकर पत्र पढ़ती है। पत्र हाथसे गोदमें धीरे-धीरे गिर जाता है। चेहरेपर चाँदनी छा जाती है। होंठ खुल जाते हैं, आनन्दके आँसू चुपचाप झरने लगते हैं। पत्र उठाकर रूपमती बेलाको दे देती है। मंजरी झपटकर बेलासे पत्र ले लेती है। पढ़ती है—]

मंजरी—**उड़त गगन पाखी प्रवर, लग्यौ रूप बिसवान।**
पीर बिकल नैना सजल, तरपत बाज परान॥
रैन भई पीरा बढ़ी, गुनमति कहो बखान।
कस बैरी बिरहा कटै, कस निसि होय बिहान ?

—

मंजरी—[**हँसकर**] देखा, रूपा, कहती थी न।

[**दोनों रूपमतीसे लिपट जाती हैं। आनन्दाश्रु उमड़ पड़ते हैं। तत्काल भाव भाषा धारण करते हैं। रूपमती बाज़बहादुर के दोहोंके उत्तरमें अपने दोहे लिख देती है**—]

रूप०—

रूप न जाने कविकला, काम न बान कमान।
कौन जतन सूचित करे, तुम सम चतुर सुजान?
अंग अंग काया विकल, कन कन अगिन समान।
भवन सिधारे बाज जब, तब निसि होय बिहान॥

बेला—धन्य, रूपा, धन्य!

मंजरी—वाह रानी, क्या दोहे लिखे हैं! सोनेको यह सुगन्ध मिली है, बाजको यह रूपमती।

रूप०—[**भरे कण्ठसे**] सब महाकालकी दया है, मंजरी, सिप्रा मैयाकी माया। अक्षय नीवी दूँगी, औघड़दानी, कि तुम्हारे देवलमें सौ बरसतक घीकी बत्ती जलती रहे। और सिप्रे, जबतक यहाँ रहूँगी तुम्हारे तीर भी घीके दिये जलाऊँगी, चुनरी चढ़ाऊँगी। तुम्हारे ही आशीर्वादसे मेरी आस पूजी है, मेरा उदयन रीझा है। जैसे तुमने मेरा अन्तर जुड़ाया, तुम्हारा हिया भी सदा जुड़ाता रहे! चाटुकार पवन सदा तुम्हें अपनी कोमल परससे लहराता रहे! [**बेला से**] और बेला, दे आ दूतको पाती। [**बेला पत्र लेकर चली जाती है। घोड़ेकी टापोंकी आवाज़।**]

[**फ़ेड आउट**]

दृश्य ४

वाचिका—बाज़रूपी सूर्य एक दिन सिप्रावर्ती वनोंसे निकल उज्जैनीके महलोंपर उगा, रूप कमलिनी खिल उठी, माण्डूके महलों सिधारी। झीलके पास हिंडोल महलके निकट विन्ध्यके शिखरपर रूपमतीकी अटारी खड़ी हुई, बारह सौ फ़ुट नीचे निभारकी वनस्थलीपर अपनी छाया डालती। और बाज़ बहादुरका मदिर मानस आतुर संगिनीका परस पा थिरक उठा। दोनों कवि थे, रागधनी गायक। माण्डूकी कन-कनमे धुन बसी, दिसि-दिसि बानी। गूँजी मालवाके रसिया बाज़बहादुर और रूपमतीके प्रणयकी सौगन्ध खाने लगे। तभी एक दिन पावसके तीसरे पहर—

बाज़—तुम न होतीं, रूप, तो आज मै निपट कंगाल होता, मेरा माण्डू सूना होता, मेरा मालवा बञ्जर।

रूप०—मेरे देवता! मेरे राजा!

बाज़०—तुम भाग्य बनकर आईं, रूप, मैं निहाल हो गया!

रूप०—भाग्य मेरे, साजन, निहाल मैं हुई!

बाज़—कितना अन्धकार था मेरे जीवनमें, रूप! सही, मेरे चमनमें गुलोंकी कमी न थी और मुझे वहाँ गुंजार करनेके लिए वक़्त भी काफ़ी था। पर अतृप्ति मेरी नस-नसमें जगी थी, आज वह तुम्हें पाकर शान्त हो गई। अब आगे मुझे कुछ और पाना बाक़ी न रहा! बाज़ अब नीड़को लौटा।

रूप०—शिकारका लोभी बाज़ क्या सच अपने घोंसलेमें लौट आया?

बाज़०—लौट आया, मेरी संगिनि, अपने घोंसलेमें। उस बसेरेसे अब वह ऊब नहीं सकता।

रूप०—भगवान् करे, न ऊबे बाज़, इस बसेरेसे!

बाज़०—जानो, रूप, अक्षय नीवी हो तुम मेरी, जिसे पा लेनेपर फिर कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

रूप०—वह उधर देखते हो, बाज़, झीलपर अम्बर झरता जा रहा है, और····

बाज़०—और मेहकी उस झीनी झरझरके पीछे, लगता है, जैसे कुछ है।

रूप०—है, बाज़, उस झीनी झरझरके पीछे कुछ····[**तनिक रुककर**] पुरातन पुरुष ओर प्रकृति, सदाके सहचर अम्बर और धरा।

वाचिका—और इस प्रकार वर्षो उनके गात आनन्दसे पुलकित होते रहे, एक दूसरेकी परससे सिहरते रहे। पर आनन्दका वह वैभव दैवको न रुचा। दैव दारुण है, दम्पतिका सुख उसे असह्य है। चक्रवाक-चक्रवाकी उसे नहीं भाते, हंसके जोड़े उसे नहीं भाते, बाज़ और रूपका दाम्पत्य भी उसे नहीं भाया। उनपर भी उसने चोट की।

वाचक—दिल्लीपति अकबरने मालवापर अपनी हसरतभरी नज़र डाली। मालवाकी भूमि सोना उगलती थी। उस भूमिके स्वामी कबसे पठान होते आये थे। अकबर उसकी आज़ादी सह न सका। आदम खाँको उसने मालवा भेजा। आदम उज्जैनी आदिपर अधिकार करता गढ़माण्डू पहुँचा। राजधानीपर उसने घेरा डाला। बाजका विलास इस तीखी चोटसे तिममिला उठा। वह सेना लिये गढ़के सिंहद्वारसे बाहर आया। घमासान छिड़ गया।

वाचिका—घायल बाजको लिये सेना गढ़में लौटी। रूपमतीका मन कातर हो उठा। उसने महाकालको सुमिरा। एक ओर वह स्वामीकी सेवा करने लगी दूसरी ओर गढ़की रक्षा। नित्य वह बाजबहादुर-को चित्तौरमें शरण लेनेको कहती, नित्य वह मुकर जाता। पर एक दिन जब रूपसे और न रहा गया उसने अपनी शपथ धराकर बाज़को भागनेको मजबूर कर दिया। बाज़ फिर और उसे न टाल सका। उसी भागनेकी रात—

बाज़—रूप, तुमने सिपाहीकी तलवार तोड़ दी।

रूप०—दुनियामें तलवारोंकी कमी नहीं, बाज़। तलवार टूटती है, फेंक दी जाती है, भट्टीसे दूसरी निकल पड़ती है। फ़ौलादकी कमी नहीं, बाज़, कमी हौसलेकी है, लौटकर फिर ले लेने की। और हौसला तुममें है, फ़ौलादसे कहीं तपा हुआ। जाओ मेरे, साईं, समय रहते चले जाओ।

बाज़—सरन भी तो कहीं हो, रूपा, मुगलोंके डरसे ज़मीन काँपती है, पहाड़ हिलते हैं।

रूप०—कह दिया, बाज, राणाके पास जाओ—चित्तौरके सूरमे राजपूत तुम्हारा बाल न बाँका होने देंगे।

बाज़—सही, रूपा, राना दिलेर हैं, उनके राजतूत सूरमा हैं। पर क्या चाहती हो कि वह अकेला चित्तौर भी मिट्टीमें मिल जाय? उस अकेले आज़ाद गढ़की विपद् नहीं देख पातीं?

रूप०—नहीं, बाज़, नही। पतिवती नारीको सबसे पहले अपना एहवात दिखता है। सो ही देख रही हूँ, मेरे राजा। जाओ, और देर न करो। राणा पत रखेंगे। मेवाड़ वैसे भी मालवाका पड़ोसी है, हमारी रक्षा करना उसका कर्तव्य है। जाओ, समय रहते चले जाओ, मेरे देवता।

बाज़—चला जाता हूँ, रूपा, पर कैसे चला जाऊँ ज़ालिम रूप? तुम समझती नहीं····अपनी अस्मत, अपनी रूपको छोड़ कैसे चला जाऊँ? कायर नहीं है बाज़, क्या करे?

रूप०—कायर नहीं है बाज, इसका सबूत तुम्हारे हरे घाव देंगे, और देंगी ये पहाड़ियाँ, ये जङ्गल, ये जलके काँपते सरोवर जिनने तुम्हें खड्गसे कीरत लिखते देखा है। रही, रूपकी बात, उसकी अस्मत-की बात। सो जानो कि तुम्हारी रूपको, तुम्हारी अस्मतको कोई हाथ नहीं लगा सकता। जाओ, पाँव पड़ती हूँ, भागो।

बाज़—वही तो डर है, रूप ! उसे, मेरी अस्मतको, हाथ न लगा सकनेका जो मतलब है, उसपर हजार बाज कुर्बान हैं। काश कि तुम हाथ लगाने देतीं किसीको, मेरी अस्मतको ही सही !

रूप०—और देर न करो, मेरे मालिक। भागो, वरना रूप तुम्हारे सामने ढेर हुई जाती है। भागो !

बाज़—[**जाता हुआ**]....अच्छा। चला, रूपा, बाज़ तुम्हारा चला। माफ़ करना मुझे, रूप ! मेरी संगदिली माफ़ करना, मेरी बुज़-दिली माफ़ करना ! चला, विदा ! अल्विदा !

रूप०—जाओ, मेरे राजा, मेरे स्वामी, जाओ ! राहके तुम्हारे काँटे फूल हो जायँ ! रक्षा करना भवानी, मेरे राजाकी ! महाकाल, तुम्हारा ही दिया है, कहीं छीन न लेना !

[**पिछले द्वारका खुलना। घोड़ेकी टापोंकी हल्की आवाज़। रूपमती कुछ देर अँधेरेमें गढकी दीवारके पास खड़ी रहती है, ऊपर चढ़कर देखती है। अँधेरा है, कुछ दिखाई नहीं पड़ता। बस घोड़ेकी टापकी हल्की आवाज़ सुन पड़ती है। धीरे-धीरे रूपमती बोलती है**—]

रूप०—घोड़ा कितना भाग्यवान है, रूप कितनी अभागी !

रूपमती दुखिया भई, बिना बहादुर बाज।
अब जिय तुम पर जात है, यहाँ कहाँ है काज ?

दृश्य ५

वाचिका—बाज़ चित्तौर चला गया। राणाने उसे शरण देकर अपना पत रखा। उधर माण्डूमे आदम ख़ाँने कहलाया कि अगर गढ़का द्वार न खुला तो गढ़ बारूदसे उड़ा दिया जायेगा। रूपने गढ़की रक्षाके लिए, प्रजाकी रक्षाके लिए, गढ़का द्वार खोल दिया। पर आदमको उससे सन्तोष न हुआ।

वाचक—होता भी कैसे ? दिल्लीसे मालवा तक मंज़िलपर मंज़िल मारता वह गढ़के लिए नहीं आया था, उसके लिए आया था जिसके रूपकी कहानी बस्ती और बियाबानोंको भर रही थी, उस रूपमतीके लिए। उसने बार बार कहलाया कि जब तक रूपमती उसके प्रति आत्मसमर्पण न कर देगी वह लौटेगा नहीं, सारी रैयतको तलवारके घाट उतार देगा।

वाचिका—जब रूपमतीकी मिन्नतोंका उसपर कुछ असर न हुआ तब उसने उसे बुला भेजा। उसने तै कर लिया था उसे जो करना था, पर एक बार उसने अपने सामने बुलाया। पर उसका रूप देख, जिसकी उसने केवल चर्चा सुनी थी, आदम पागल हो उठा।

रूप०—ख़ान साहब, दिल्लीकी सल्तनत दुनियामें सबसे महान् है। उसके तख़्तपर खुदाका नूर बरस रहा है, अकबरका सानी ख़ल्कमें नहीं। और आप उसके सिपहसालार हैं, उसकी रियायाकी पनाह। आज मैं भी उसकी रियाया हूँ। उसपर क्या हाथ उठाओगे ?

आदम—आज जो नूर मेरे सामने बरस रहा है, रूपमती, उसका भी कोई सानी नहीं और आदम उसकी परस्तिशके लिए बेचैन है।

रूप०—मै नाचीज़ हूँ, ख़ाँन, क्या करोगे मेरी अस्मत लेकर ? तुम्हारे बीबी है, बहन है, बेटी है, माँ है। यह अदनी रूपमती घुटनें टेकती है, पनाह दो उसे। [**घुटने टेकती है**]

आदम—[**आगे बढ़ता हुआ**] उठो....

रूप०—[**उछल कर पीछे हटती हुई**] बस-बस, ख़बरदार, मुझे छूना नहीं ! अगर मुझे बेगम ही बनाना है तो सब्र करो, क़ायदेसे बनाओ। परसोंकी रात मेरे महलों आओ, अपना मुँह काला करो। पर ख़बरदार जो दो दिन किसीने इधरका रूख़ किया !

वाचक--और रूपमती चली गई। आदम भी अपने डेरे लौटा। तीसरे दिन रूपमतीने बेलाकी मददसे सिंगार किया। अपने सुन्दरतम

वस्त्र पहने, क़ीमतीसे क़ीमती जवाहरात। और पलंगपर लेट आदम खाँका इन्तज़ार करने लगी। आधी रातका सन्नाटा जब गढ़पर छाया, पहरुए जब ऊँघने लगे तब आदम चुपचाप रूपमतीके महलों आया। बेलाने उसे रूपमतीका कमरा इशारेसे बता दिया। कमरेमे झाड़ चमक रहे थे।

वाचिका—उनकी रोशनीमें आदमने देखा—रूपमती पलंगपर पड़ी सो रही है, रात आधी चली जानेसे शायद उसकी पलकें नींदसे बोझिल हो आई हैं। पर जो उसने पलंगका पर्दा उठाया तो चीखकर दो कदम पीछे हट गया। उसकी चीख़ सुनकर भी कोई पास न आया। वह था और वह लाश थी और उस लाशकी कहानी गढ़पर छाई थी, जो आज भी माण्डूके बीरानेको भर रही है।

क्रौंच किसका ?

दृश्य १

[राजा शुद्धोदनका महल। राजा; अनेक अभिजातशाक्य; अभिजात-पुत्रोंके आगे सिद्धार्थ शान्त खड़ा है, बायें कन्धेसे धनुष लटक रहा है, पीठपर बँधे तूणीरसे बाणोंके कंकपत्र झाँक रहे हैं। कुमारके दाहिने हाथमें एक बाण है जिसका पंख उसके कन्धेसे लगा है और उसका फलक वह नाख़ूनसे हल्के-हल्के रगड़ रहा है।]

राजा—प्रसन्न हूँ, कुमार। तुम्हारे हस्तलाघवने आज तुम्हारे शत्रुओंका मुँह बन्द कर दिया।

सिद्धार्थ—मेरा कोई शत्रु नहीं है, पिता।

राजा—सही, कुमार, पर शंका दूर हुई।

सिद्धार्थ—शंका कैसी, राजन् ?

राजा—कुछ लोगोंने तुम्हें बदनाम करनेका प्रयत्न किया था।

सिद्धार्थ—वह क्या, राजन् ?

राजा—यही कि तुम प्रासाद-वैभवमें पलते हो, कि तुम निर्वीर्य हो, प्रमादी हो, कि प्रासादगत व्यसनोंने तुम्हारे शस्त्र-कौशलको कुण्ठित कर दिया है। पर आज जो तुमने सारे शाक्य-किशोरोंको अपने लक्ष्य-वेधसे निस्तेज कर दिया है, उससे वह निन्दा निर्मूल हो गई है। तुम कपिलवस्तुके एकवीर हो। प्रसन्न हूँ, कुमार।

सिद्धार्थ—देवकी प्रसन्नतासे सतुष्ट हुआ, पर निन्दा निर्मूल हुई, इससे कुछ विशेष आह्लाद नहीं होता।

राजा—आह्लाद होना चाहिए, कुमार! क्षात्र-व्यवहारपर आक्षेप शाक्य-किशोरके लिए अचिन्त्य होना चाहिए। यशस्वी हो। लो अर्घ्य, तिलक लो। पुरोधा!

राजा—देवोपम थे वे राजर्षि, कुमार, उनकी बात छोड़ो।

सिद्धार्थ—उनमें असाधारण कुछ नहीं मानता, देव, मनुष्यकी मेधा पूर्वापर नहीं मानती, उसका लाभ सबको है; उसकी कोई परिधि नहीं, राजन्।

राजा—शस्त्र-कार्य शाक्य कुमारोंको परम्परा कपिल मुनिके ही समयसे, प्रथम इक्ष्वाकुके कालसे ही, चली आती है, कुमार। वर्ण-व्यापार-से विरत न हो, सिद्धार्थ! शस्त्र-व्यापार शाक्य-कुमारके लिए वैसे ही सहज है जैसे पुरोधाका यज्ञमे पशु-मारण-कर्म।

सिद्धार्थ—फले पशु-मारण-कर्म पुरोधाको, राजन्! पशु-मारण-कर्म मेरे लिए यज्ञ-अयज्ञ सर्वत्र गर्हित है। और शाक्य-कुमारका सहज शस्त्र-व्यापार मैं तज चुका हूँ—मनसे, वचनसे, कर्मसे।

पुरोहित—कठिन हो, कुमार!

सिद्धार्थ—द्रव, महर्षि। दारुण कर्मसे विरत हूँ।

राजा—कुमार गरजते सिंहोंके विकराल फैले मुखोंको तुमने बाणोंसे भर दिया है।

सिद्धार्थ—सही, राजन्, पर लक्ष्यकी मृगीने जब अपने कर्णायत नयनोंको पसार मुझे देखा है तब आकर्ण खिंची धनुषकी मेरी प्रत्यचा सहसा शिथिल हो गई है, मैं लौट पड़ा हूँ। और असहाय मृगीका वह दीन अवलोकन अन्तरको सालता रहा है। ना राजन्, वह कर्म मुझसे न होगा।

राजा—मृगीको न मारो, कुमार। मात्र हिंस्र जन्तुओंको अपने शरका लक्ष्य बनाओ। सहमत हूँ।

सिद्धार्थ—मैं सहमत नहीं हूँ, गुरुवर। हिंस्र-अहिंस्र प्राणवानोंकी सज्ञा है, वाणहत सिंह और शरविद्ध मृगीमें मेरे लिए कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही अपने मरणमें निस्पन्द हैं, अपनी पीड़ामे कातर!

[**लोगोंमें फुसफुसाहट, हलचल**]

राजा—कठिन हो, कुमार।

पुरोधा—निःसन्देह कठिन।

सिद्धार्थ—मूलमें हिंस्र-अहिंस्रकी वेदना समान है, राजन, जैसे भस्मीभूत शमी और पलाशकी अग्निकी शीतलता समान है, पुरोधा! यह मेरा अन्तिम शस्त्र-व्यापार था। विरत होता हूँ शस्त्र-कर्मसे आजसे। आप सब साक्षी हों!

[**राजाका चुपचाप चला जाना, फुसफुसाहट, हलचल, शान्ति।**]

दृश्य २

[**जामुनके पेड़ तले चिबुक हथेलीपर धरे सिद्धार्थ निस्पन्द बैठा है। पुष्करिणीमें प्रातःकालीन मलयके स्पर्शसे हल्की लहरियाँ उठ रही हैं। जब-तब कमलोंकी छायासे निकल हंसोंके जोड़े जलकी सतहपर सहसा तैर जाते हैं, पर सिद्धार्थके चिन्तन-व्यापारमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। शान्त नीरव वह बैठा है।**]

सिद्धार्थ—[**उठते हुए सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे जागता-सा**] कितना नीरव है निसर्ग! कितना विपुल है इस निसर्गका वैभव! कितनी प्रशस्त है, अरुण, तुम्हारी यह संचरण भूमि, यह फैला आकाश, पर इसके चँदोवे तले रहनेवाला मानव कितना अकिंचन है, कितना करुण! जीवधारीका संकट कितना दारुण है! बालपनका प्रसन्न हास तारुण्यके उल्लासमें, उसकी असीम कामनाओंमें बदल जाता है, उल्लास प्रौढ़ताके चिन्ताकुल गर्तमें खो जाता है। जरा आती है और कमनीय काया जर्जर हो जाती है, फिर वही एक दिन निर्जीव भी हो जाती है। क्या होता है फिर उस प्रसन्न हासका, उल्लासका, उस जर्जर कायाका भी?

[**आमका फल टपक पड़ता है। टपकनेकी हल्की आवाज़।**]

सिद्धार्थ—यह टपक पड़ा आम ! जैसे जर्जर काया टपक पड़ती है। आमका वह पका पीत गात ! जीवका पका-अधपका—तरुण–बाल जीवन धागेसे बँधा टँगा है, दुर्बल धागेसे, और हल्की बयार भी उसे झकझोरकर नष्ट कर देती है। [**सूर्यकी ओर देखते हुए**] तुम लोक-लोक फिरते हो, अपनी काया दाहते, दूसरोंको आलोक अरुण गरमई बाँटते, भला ब्रह्माण्डके किसी और भागमें भी जीवको तुमने इतना कातर इतना बेचारा पाया है ? पर स्वयं क्षितिजके परे-नीचेसे तुम उठते हो, सुकान्त—अरुण, आकाशकी मूर्धापर धीरे-धीरे चढ़ जाते हो, फिर निस्तेज हो चलते हो अपने अस्ता-चलकी ओर, अपनी ही पराजयसे आरक्त ! क्या अन्तर है भला दीन प्राणियोंमें और तेजोमय तापराशि तुममें ?

[**सहसा पुष्करिणीमें कुछ हलचल होती है, कुमार नीचे देखता है, बड़ी मछली छोटीको मुँहमें दबाये उछल पड़ती है। कुमार हिल उठता है।**]

सिद्धार्थ—वही ऊपरका ही प्रतिबिम्ब इस जलमें भी ! मात्स्यन्यायका दारुण व्यापार ! कौन प्राणियोंकी रक्षा करेगा, इस संहारसे, इस मारक ह्राससे ?

[**हंसोंके जोड़ोंका जामुनकी डालीपर किलोल**]

सिद्धार्थ—सदासे करते आये हैं मनीषी। पर क्या कर पाये वे खोज जीवन-व्याधिकी औषधिकी ? मैं करूँगा। [**शब्दोंपर जोर देकर**] मैं ! अकिञ्चन हूँ, उन मेधावियोंकी तुलनामें। पर करूँगा मैं खोज उस उपायकी जो दुःखका मूल काट सके, प्राणीका दुःख मोच सके।

[**क्रौंच-मिथुनके किलोल शब्द**]

सिद्धार्थ—कितनी धूप है इस धरापर, निसर्गमें कितनी शान्ति है, प्राणीका प्राणीमें कितना मोह ! पर जितनी ही धूप है, उतनी

ही छाया; जितनी ही शान्ति है, उतना ही कोलाहल; जितना मोह, उतनी ही घृणा ! ऐसा क्यों ? क्यों किसीका आह्लाद किसीका विषाद बन जाता है, किसीके उल्लसित प्राणोंको कोई क्यों सहसा हर लेता है ?

[**क्रौंचका कातर-करुण आर्त स्वर ! सहसा आहत पक्षीका सिद्धार्थकी गोदमें गिरना। कुमार यकायक उछल पड़ता है।**]

सिद्धार्थ—आह ! [**घायल पंखोंकी फड़फड़ाहट। सिद्धार्थ पक्षीके शरीरसे बाण निकालता हुआ उच्छ्वासके साथ**—] मार डाला व्याधके बाणने ! [**वाष्प गद्गदकण्ठ**] क्या बिगाड़ा था भला इस निरीह पक्षीने वधिकका ? [**सहसा पहले उसकी छायाका फिर देवदत्तका प्रवेश। सुपुष्ट वाम स्कन्धसे लटकता धनुष, पीठपर बाणोंसे भरा तरकश, दाहिने करके बाणकी नोक घर्षित करती उँगलियाँ। वक्षका छोटा-सा पुष्पहार आखेटकी व्यस्ततासे धूमिल। कुमार घृणासे मुँह फेर लेता है।**]

देवदत्त—क्रौंच मेरा है, कुमार !

सिद्धार्थ—[**घृणासे दृष्टि उठाता हुआ**] लुब्धक ! किरात !

देवदत्त—[**हँसकर**] कुलपति विश्वामित्रके अनुसार ये शब्द सभ्य नहीं, कुमारके सर्वथा अयोग्य !

[**कुमार फड़फड़ाते पक्षीके लहूसने पंख पुष्करिणीके जलमें धोता है। जलके छींटे उसके नेत्रोंपर डालता है, कुछ उसकी चंचुमें।**]

देवदत्त—[**कुछ ऊँचे स्वरमें**] कुमार, क्रौंच मेरा है ! [**सिद्धार्थ ललाटसे पसीनेकी नन्हीं बूँदें पोंछ लेता है।**]

देवदत्त—[**उच्चतर स्वरमें**] क्रौंच मेरा है, कुमार !

सिद्धार्थ—[**फड़कते होठोंसे**] मृत क्रौंच तेरा, जीवित मेरा।

[क्रौंचके रक्तसे रँगे अपने नाखून धोता है। एक उँगलीसे हंसका घाव हल्के दबाये हुए हैं।]

देवदत्त—[सिद्धार्थकी शान्त चेष्टासे जल-भुनकर उच्च स्वरसे] कुमार !

सिद्धार्थ—[सवेग दृष्टि फेरता है] बोल !

देवदत्त—[क्रोधसे काँपते स्वरसे] दे दो मेरा क्रौंच !

सिद्धार्थ—[अविकृत उपहासास्पद वाणीसे] यमसे माँग अपना क्रौंच, देवदत्त !

देवदत्त—ले लूँगा, कुमार, अपना क्रौंच ले लूँगा !

सिद्धार्थ—ले ले, यदि शक्ति है।

[कुमारका तनकर खड़ा होना, देवदत्तका सवेग आगे बढ़ना। सहसा केलोंकी बाढ़से निकलकर रक्षकोंका देवदत्तको पकड़ लेना।]

पहला रक्षक—सावधान, देवदत्त !

देवदत्त—छोड़ दो मुझे ! कौन हो तुम ?

रक्षक—राजाज्ञासे हम सदा कुमारकी अलक्षित रक्षा करते हैं।

देवदत्त—छोड़ दो मुझे, हट जाओ !

सिद्धार्थ—छोड़ दो न, तनिक देखूँ इसका बाहुबल। क्रौंच समझ रखा है इसने मुझे भी !

देवदत्त—हाँ, छोड़ दो मुझे, दिखा देता हूँ अभी क्रौंच किसका है !

दूसरा रक्षक—अब इसका निर्णय संथागारमें होगा, राजा करेंगे। चलो !

[सब संथागारकी ओर जाते हैं। देवदत्त रक्षकोंसे घिरा, कुमार पक्षीको दोनों हाथोंसे पकड़े, छातीसे सटाये हुए। सभी चुप।]

दृश्य ३

[शाक्योंका संथागार। राजा, उपराजा, पुरोधा आदि बैठे हैं। संथागारमें इस समय न्यायालयके इन अधिकारियोंके अतिरिक्त केवल वादी-प्रतिवादी हैं जिनके मुक़दमे सुने जा रहे हैं। प्रधान रक्षकने देवदत्त और सिद्धार्थके साथ आकर स्थिति निवेदन की। राजाने दोनोंको आत्मनिवेदन करनेको कहा।]

देवदत्त—राजन्, सिद्धार्थ गौतमने मेरे आखेटका लक्ष्य बलपूर्वक अपहृत कर लिया है।

राजा—सो कैसे ? स्पष्ट विस्तारपूर्वक कहो।

देवदत्त—देव, नित्यकी भाँति आज भी शाक्य-नियमोंके अनुसार आखेट-व्यायामके लिए वनान्तकी ओर चला गया था। देर तक दौड़-भाग करनेपर भी जब कोई शिकार न मिला तब मन मारे लौट रहा था कि नगरके पूर्वद्वारकी पुष्करिणीके तीर जामुनके वृक्ष-पर क्रौंच मिथुनको देखा। बाण जो संधानकर मारा तो वह क्रौंच-नरके जा लगा और वह तत्काल आहत हो नीचे गिरा। नीचे सिद्धार्थ गौतम सदाकी भाँति आज भी जामुनकी छायामें बैठा था। क्रौंच उसकी गोदमें जा गिरा। जब मैंने पहुँचकर अपना शिकार माँगा तब उसने उसे देनेसे इन्कार किया और द्वन्द्व युद्धके लिए तत्पर हो गया। मुझे मेरा शिकार मिलना चाहिए।

राजा—रक्षक, तुम क्या वहीं थे ?

रक्षक—देव, मैं वहीं था। मेरे साथ बालाहक और बधिर भी थे।

राजा—उन्हें भी उपस्थित करो।

[प्रधान रक्षकका बालाहक और बधिरके साथ प्रवेश। राजाज्ञा उनके सामने देवदत्त अपना वक्तव्य दुहराता है।]

राजा—[**प्रधान रक्षकसे**] देवदत्तका वक्तव्य क्या सच है ?

प्रधान रक्षक—देव, सच है, सिवा इसके कि सिद्धार्थ गौतमपर आक्रमण-का उपक्रम पहले देवदत्तने ही किया।

[**राजाके पूछनेपर अन्य रक्षक भी इसकी पुष्टि करते हैं।**]

राजा—सिद्धार्थ गौतमपर आक्रमणका उपक्रम जब पहले तुमने किया, देवदत्त, तब आवेदनका अर्थ क्या रहा ?

देवदत्त—आक्रमण हुआ नहीं, देव ! फिर आखेटके लक्ष्यका न्याय तो होना ही है।

राजा—सो तो होगा ही, पर व्यवहारका तिरस्कार तो उचित नहीं।

देवदत्त—[**सिर झुका लेता है, फिर अपने-आप धीरे-धीरे कहता है**—] पितृव्य द्वारा न्याय कहाँ तक सम्भव है, विशेषकर जब प्रतिवादी पुत्र हो !

राजा—सिद्धार्थ गौतम, देवदत्तका आवेदन कहाँ तक सच है ?

सिद्धार्थ—प्रायः समूचा ही सच है, राजन्।

राजा—समूचा ही सच है ?

सिद्धार्थ—प्रायः समूचा ही, हाँ, देव।

राजा—फिर तुम्हारा कुछ प्रतिवाद नहीं ?

सिद्धार्थ—है, राजन्, प्रतिवाद है।

राजा—बोलो, क्या है ?

सिद्धार्थ—देवदत्तने क्रौंचको शरविद्ध किया। वह धरतीपर नहीं गिरा, मेरी गोदमें गिरा। रक्त और अशौचसे अपना गात अपवित्र करनेका आवेदन नहीं करता, राजन्, पर प्रश्न एक निश्चय निवे-दन करूँगा—क्रौंच मृत नहीं जीवित गिरा, मरणासन्न ! मैंने उसे जलादिके उपचारसे सम्हाला। क्रौंच किसका है ?

राजा—उसे मारा किसने ?

देवदत्त—मैंने।

सिद्धार्थ—जिलाया मैंने। और मैं पूछता हूँ—क्रौंच मारनेवालेका या जिलानेवालेका ?

राजा—ऐं !

[राजा चकित हो जाता है, उत्तर नहीं दे पाता, अपने चारों ओर न्यायके पण्डितोंकी ओर लाचार देखता है। धर्मसूत्रोंमें उसका विधान नहीं। सब चुप हैं।]

राजा—[**पण्डितोंसे**] क्रौंच मारनेवालेका या जिलानेवालेका ? [**पण्डित चुप हैं**]

राजा—देवदत्त, परम्पराके व्यवहारसे क्रौंच तुम्हारा है, पर सिद्धार्थ गौतमने जो प्रश्न उठाया है वह भी कुछ कम महत्त्वका नहीं। मैं लज्जित हूँ, कुछ निर्णय नहीं दे सकता।

[देवदत्त भुनभुनाता हुआ चला जाता है, सिद्धार्थ छातीसे क्रौंच-को चिपकाये संथागारसे बाहर हो जाता है। राजा धीरे-धीरे दुहराता है—'क्रौंच मारनेवालेका या जिलानेवालेका ?' धीरे-धीरे सभी पण्डितोंके मुँहसे उसी प्रश्नकी प्रतिध्वनि उठती है।]

[**पटाक्षेप**]

जोहान वोल्फ़गांग गेटे

वाचक—बाईस वर्षका गेटे। जिस्म फ़ौलादी। साँचेमें ढला हुआ। ऊँचा क़द, अत्यन्त सुन्दर। मधुर रोमानी कवि। उसके लिरिकोंकी प्रशंसा लेसिंगके-से कठिन आलोचकों तकने की है। भावुकता और रोमांसकी अमित सम्पदा उसकी कवितामें है। उस कविताने कुमारियों और विवाहिताओंके हियेमें टीस उठा दी है। पर स्वयं वह किसी एकके प्रति चिरकालिक स्नेह नहीं रख पाता। कानूनके अध्ययनके लिए वह स्त्रासबुर्ग आया है। फ्रांकफ़ुर्त और लाइपजिग-में तरुणियोंके अनुरागपर वह शासन कर चुका है। वही अब स्त्रासबुर्गमें है। स्त्रासबुर्ग प्रकृतिका रनिवास है, सम्मोहक संकेत-गृह। पहाड़ोंकी बर्फ़ ढुलक चुकी है। वसन्त यौवनपर है, पराग बरस रहा है। चारों ओरकी पहाड़ियाँ फूलोंसे लदी है। वहीं वासन्ती लतिकाओंके बीच, गेटे और मिनी—

गेटे—कितना मधुर रहा होगा वह कवि, मिनी, सोचो ज़रा।

मिनी—तुम जितना शायद नहीं, जोहान।

गेटे—नहीं, मिनी। ये पूरबके कवि, वैसे भी भावराशिके स्रष्टा है पर रस और ध्वनि तो जैसे उनकी अपनी है। और जब प्रकृति भी उनसे सहकार करती है तब तो जैसे उनकी लेखनीमें जादू बस जाता है। फिर इस कालिदासकी तो कहीं समता ही नहीं।

मिनी—पर तुम तो कहते थे न कि पूरबके कवि भावबोझिल हैं, अध्यात्म-प्रवीण ?

गेटे—सही, पर भाव और आत्मबोध जीवनके साथ वे अजब रीतिसे पिरो देते हैं। फिर अध्यात्मसे अलग भी उनका असीम काव्य है जो निरे जीवनसे सम्बन्ध रखता है। उद्दाम जीवनसे, उसकी उस आँधीसे जिससे जीवन स्वयं जड़तक हिल जाता है। और उसी

आँधीको उनका सुकुमार काव्यतन्तु, प्रणयका पतला धागा, बाँधकर बेबस कर देता है। अनुरागका वह कवि रति-विरतिके मैदानमें जैसे रतन बिखेर देता है, सारी प्रतिभाएँ फिर उसमें अपना इष्ट, अपना भाग, खोज लेती हैं।

मिनी—जोहान, मुझे अपने स्वरसे वञ्चित न करो, उस मधुर स्वरसे, जो मेरे सूनेका सर्वस्व है। सुनाओ अपनी वह कल्पना जिसकी सीमाएँ तुम्हारे शब्द ही छू सकते हैं।

गेटे—अच्छा सुनो, मिनी, कविकी वाणी सुनो। अर्थको न सोचो। तुमने स्वर मांगा है, सुनो, और जानो कि इससे मधुर इस धरापर और कुछ नहीं—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

मिनी—यही शकुन्तला है, गेटे ?

गेटे—यही, मिनी। शकुन्तला यही है। और माँगो अपने कविसे यह छवि। दे सकेगा भला ? उसकी सारी काव्यसम्पदा इसके सामने तुच्छ है।

मिनी—सच जोहान, शैवलमें उलझा कमल, धब्बेसे मलिन चाँद, वल्कलमें लिपटी शकुन्तला—तीनों अभिराम हैं, अपने दोषोंसे ही सुन्दरतर।

[**नौकरका प्रवेश**]

नौकर—हर्डरकी सेक्रेटरी पधार रही हैं।

गेटे—बिठाओ। कहो मैं तैयार हूँ, अभी चलूँगा। [**मिनीसे**] मिनी, जानती हो, आज लेसिंगसे मिलना है। इसीसे हर्डरने सेक्रेटरी भेजा है। जाता हूँ, क्षमा। अल्विदा !

मिनी—जानती हूँ, प्रिय ! नहीं रोकूंगी, जाओ । अल्विदा !

[**प्रस्थान**]

वाचक—युग बुद्धिवादी है। जीवनके हर पहलूको तर्ककी कसौटीपर कसा जा रहा है और उस तर्कका मध्य बिन्दु है लेसिंग। लेसिंग ख्यातिकी चोटीपर है।

[**हर्डर नये युगका प्रवर्तक है, 'स्टूर्म उण्ड ड्रांग'—तूफ़ान और ताकतके युगका। उसके प्रधान सहायक गेटे और शिलर होनेवाले हैं, तरुण गेटे, तरुण शिलर। हर्डर बुद्धिवादको जीवनपर अत्याचार मानता है। रोमैंटिक परम्पराका वह पिता है। गेटेसे केवल पाँच वर्ष बड़ा, पर उसका सिद्धान्त-गुरु।**

वहीं लताओंकी आड़में होटलके बरामदे लेसिंग और हर्डर बैठे हैं। बहस छिड़ी है। बीच-बीचमें दोनों हलकी हालाकी चुस्कियाँ ले लेते हैं ! गेटेका इन्तज़ार है।]

हर्डर—ना, लेसिंग, साहित्य तत्त्वबोध नहीं, शिराओंका कंपन है, मधुर-मादक भावोंका ऊहापोह, आमूल हिला देनेवाली स्वप्निल व्यंजनाका मूर्तन, रति-विरतिका गुम्फन।

[**बेयररका प्रवेश**]

बेयरर—जोहान बुल्फगांग गेटे।

[**गेटेका प्रवेश; लेसिंग और हर्डरका स्वागतके लिए उठना**]

हर्डर—लेसिंग [एक साथ]—स्वागत ! स्वागत !

गेटे—अनुगृहीत हुआ।

हर्डर—लेसिंग, जर्मनीकी अभिनव भारतीके अनुपम सर्जक तरुण गेटेको तुम्हारे समीप उपस्थित करके अभितृप्त होता हूँ। 'स्टूर्म उंड ड्रांग' की तुम मुझे आद्याशक्ति कहते हो, कहो अगर चाहो, पर उसका वास्तविक केन्द्र आज तुम्हारे सामने है यह गेटे।

[**हर्डरके स्वरमें उत्साहसूचक कम्पन**]

लेसिंग—गेटे, मानता हूँ तुम्हारी काव्यशक्ति। जर्मनीका साहित्य तुमसे भरेपूरेगा इसमें संदेह नहीं। स्वागत !

गेटे—अनुगृहीत हुआ। महामहिम लेसिंगकी सत्कामना मेरे मार्गको निःशूल करेगी, धन्यवाद। पर हर्डरका मेरे प्रति पक्षपात आपसे संभवतः छिपा नहीं। [**फिर हर्डरसे**] और हर्डर, आभार, धन्यवाद।

लेसिंग—जानता हूँ, गेटे, हर्डरका तुम्हारे प्रति आकर्षण। पर यह भी जानता हूँ कि वह आकर्षण अकारण नहीं है। फिर तुम उस विप्लवके केंद्र होने जा रहे हो, हर्डर जिसका आदि बिन्दु है। स्वयं मैं यद्यपि उस दृष्टिकोणको स्वीकार न कर सका, पर, तुम्हारी क़लमका जादू स्वीकार करता हूँ और वह हर्डरकी सिफ़ारिशसे नहीं। [**वेयररसे**] बेयरर, ग्लास। [**गेटेसे**] गेटे, सच, तुम अपनी जमीनपर खड़े हो ?

गेटे—सम्मानित हुआ, लेसिंग। पर शायद मैंने आकर भाव-शृंखला तोड़ दी।

लेसिंग—नहीं, नहीं गेटे। तुम्हारे ही लिए तो आज हम बैठे हैं। और शृंखला जो टूटी तो वह जुड़ भी जायगी। क्यों हर्डर ?

हर्डर—निश्चय। और मेरा विश्वास है, हमारा तरुण कवि हमारे विचारोंसे ऊबेगा नहीं।

गेटे—नहीं हर्डर।

लेसिंग—तो तुम तर्ककी नित्य सत्ता स्वीकार नहीं करके, तुम जो विज्ञानका जादू देख रहे हो, स्वयं उसके प्रमुख हिमायतियोंमेंसे हो।

हर्डर—सही, लेसिंग, मैं विज्ञानकी सत्ता स्वीकार करता हूँ। उसके प्रसारके हिमायतियोंमें भी हूँ। पर मैं बुद्धिका अविकसित शाश्वत रूढ़िसत्ताको नहीं मानता।

लेसिंग—फिर क्या मानते हो ?

हर्डर—मानता हूँ कि बुद्धि जीवनसे पृथक् नहीं है, उसकी व्यवस्थापिका है।

लैसिंग—यानी कि तुम उसे जीवनकी व्यवस्थापिका मानते हो? फिर विरोध कहाँ है? बुद्धि यदि व्यवस्थापिका है, जीवनकी संचालिका है तो क्या उसकी रग-रगमें समाहित नहीं?

हर्डर—बस, यहीं तो विरोध आता है। बुद्धि व्यवस्थाकी परिचायक है, उसकी सर्जक, स्वय व्यवस्था। पर जीवनसे सम्पर्कमे व्यवस्था उसकी करवटका एक बल मात्र है। उसके शरीरका रूप मात्र। रूपसे जीवनका बोध हो सकता है पर रूप जीवन नहीं है, उमका संबोधक आभास मात्र है।

गेटे—मैं दख़ल दे सकता हूँ?

लेसिंग—[**बोलता-बोलता**] ओ····बोलो, बोलो।

गेटे—क्षमा करेंगे, बात कट गई, बात पूरी करलें।

लेसिंग—नहीं, नहीं, बोलो तुम। मेरी बात लम्बी है, फिर हो लेगी। पहले तुम कहो अपनी बात।

गेटे—मैं हर्डरसे पूछ रहा था कि फिर बुद्धि जीवनमें कहाँ आती है—क्या जीवनको सम्हालनेमें नहीं?

हर्डर—ठीक, बुद्धि जीवनकी सम्हालमें ही आती है। उसे सम्हाल रखने, व्यवस्थित रखनेमें ही बुद्धिकी सार्थकता है। पर व्यवस्था स्वयं, जैसा कह चुका हूँ, जीवन नहीं।

गेटे—जर्मनीके धार्मिक युद्धोंमें क्या जीवन नहीं रहा है? जीवनने ही तो जीवनका अन्त किया है?

हर्डर—सही, धार्मिक युद्धोंकी बर्बरता अनुपमेय है पर जीवनकी उपासनासे उसका क्या संबन्ध?

लेसिंग—यह कि तर्क सम्मत जीवनका अभाव ही उसका कारण है। बुद्धिवादी अपने तक, प्रोटेस्टेंट या रोमन कैथोलिक, विश्वास

करता है और स्वयं वह अपना दृष्टिकोण स्वीकार करता है, विपक्षीको भी अपनी बुद्धि द्वारा अनुमोदित दृष्टिकोण कायम रखनेका विरोध नहीं करता। इस बुद्धि-व्यवस्थासे धार्मिक सहिष्णुता आती है, वरना, देखो, आल्सेस और पोलैंड तकके उजड़े गाँव और विध्वस्त नगर।

हर्डर—मैं कब कहता हूँ कि तर्क-सम्मत जीवनसे मेरा विरोध है? मैं सहिष्णुताके युग और उसकी अमूल्य देन शान्ति और स्वतन्त्रताको स्वीकार करता हूँ। इससे विशेषकर संतुष्ट हूँ कि उसकी स्थापना में लेसिंगका सक्रिय योग रहा है।

लेसिंग—क्या उन्हें स्पष्ट करोगे?

हर्डर—निश्चय। लेसिंगका बुद्धिवाद विश्वको स्थिर यंत्रके रूपमें देखता है जिसकी व्यवस्था तर्क-सम्मत विधानोंसे होती है। मैं विश्वको जीवित चचल शरीर परिवर्तनशील शरीरके रूपमे पाता हूँ जो निरन्तर बढ़ता और नष्ट होता रहता है। हमारे पैरों तलेकी यह धरती स्वय सतत गतिमती है, क्षण-क्षण कण-कण बदलती है। इसी प्रकार जो कुछ इस पृथ्वीसे प्रसूत होनेवाला है—जलवायुसे लेकर भाषा, रस्मोरिवाज़, मज़हब तक—वह सभी पृथ्वीकी ही भाँति बराबर बदलता जा रहा है। नित्य कुछ भी नहीं, नित्य बस एक चीज़ है, जीवन, प्रवहशील जीवन, निरन्तर बदलता, पर अपनी अटूट श्रृंखलामें सदा नित्य, उद्दाम। बुद्धिवादके कमज़ोर धागोंमें उसे बाँधनेका प्रयत्न न करो, लेसिंग।

लेसिंग—नहीं, हर्डर, नहीं करूँगा। अच्छा चला मैं, समय हो गया। युनिवर्सिटीकी गोष्ठी अब आरम्भ होनेवाली है। आज हमारी बात बस यहीं तक। और गेटे, मुझे जाना ही पड़ रहा है, खेद है। तुमसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। हर्डर भाग्यवान् है जिसे तुम-सा समर्थ सहायक मिला। 'स्टूर्म उंड ड्रांग' का भविष्य मेरे

बावजूद आलोकमय है, आलोकमय हो। क्षमा करना, गेटे, क्षमा हर्डर [**उठते हुए।**]

गेटे—ठीक है, ठीक है।

हर्डर—मैं भी लेसिंगकी सिफ़ारिश करता हूँ, गेटे। युनिवर्सिटीकी गोष्ठी इनकी राह देख रही होगी।

गेटे—ठीक है, ठीक है। निश्चय पधारें। हम फिर आयेंगे। दर्शन कर अनुगृहीत हुआ।

लेसिंग—[**हैट और छड़ी उठाते हुए**] और देखना, हर्डर, अभी जाओ नहीं। ग्लास ख़ाली करके जाना। जल्दी क्या है?

हर्डर—अच्छा, अच्छा। धन्यवाद!

[**दोनों लेसिंगसे हाथ मिलाते हैं। लेसिंग जाता है**]

लेसिंग—[**जाते-जाते दूरसे आती आवाज़**] हर्डर मुबारक तुम्हें उद्दाम जीवन! गेटे, उन्मद जीवन मुबारक!

[**प्रस्थान**]

हर्डर, गेटे—धन्यवाद! धन्यवाद!

हर्डर—[**धीरे-धीरे बैठते हुए**] गेटे, यही लेसिंग है। युग-पुरुष, इस युगका प्रवर्त्तक। धन्य हैं हम, उसके समकालीन!

गेटे—[**बैठकर**] सही। इस यूरोपीय युगका उन्नायक लेसिंग ही है। पर एक बात बताओ, हर्डर! लेसिंग कुछ अप्रतिभ नहीं था?

हर्डर—ऐसी ग़लती न करना, गेटे। मुझमें दम कहाँ जो उसे अप्रतिभ कर सकूँ। सम्भवतः तुम नवागन्तुकके कारण उसने अपना गत्यवरोध जान-बूझकर किया। वरना उसका वाग्विलास, उसका तर्क-वितन्वन! कहाँ लेसिंग, कहाँ मैं!

गेटे—तुम दोनों महान् हो, हर्डर, तुम भी, लेसिंग भी। मैं तो दोनोंका मुँह ताकता रह जाता हूँ।

हर्डर—सुनो, गेटे, लेसिंगका तर्क बड़ा, मेरा शायद, जीवनका उल्लास बड़ा है। पर तुम्हारे पास हृदय है, दोनोंसे बड़ा। हम दोनों खो जायँगें, तुम युगोंकी जिह्वापर विराजोगे।

गेटे—नहीं, मेरे अजेय गुरु। दीक्षा दो मुझे।

हर्डर—गेटे, ढोंग न करो। पर यदि मुझे तुम्हें किसी ओर आकृष्ट करना है तो बस, इस ओर—राष्ट्रोंके लोकगीतोंका सौन्दर्य चेतो। प्रकृतिकी ओर लौटो, मौलिकताको पेबन्द न लगाओ, प्रतिभापर कोई प्रतिबन्ध न मानो, क्योंकि सर्जकका व्यक्तित्व अपना क़ानून आप है। स्वच्छन्द गाओ, तुम्हारे लिरिकोंमें उद्दाम जीवन लहरें मारता है, उल्लास सस्वर है। भला कौन भूल सकता है तुम्हारे 'हाइदेन्रोज़लाइन' की बेकाबू कर देनेवाली बेबस पुकार।

गेटे—आभार, आभार हर्डर ! कितने उदार हो !

हर्डर—और देखो, शेक्सपियर, होमर, ओसियन, गोल्डस्मिथको न भूलना, याद रखो—शेक्सपियर, होमर, ओसियन, गोल्डस्मिथ।

गेटे—[**जैसे मुग्ध दुहराता हो**] शेक्सपियर, होमर, ओसियन, गोल्डस्मिथ।

[**दोनों साथ-साथ उठते हैं, धीरे-धीरे होटलसे बाहर निकल जाते हैं। हाथ मिलाकर विदा होते हैं।**]

हर्डर—विदा, गेटे। फिर मिलेंगे।

गेटे—विदा ! फिर मिलेंगे।

वाचक—डैन्यूबका एक कोण। वासन्ती प्रकृतिका अभिनव शृङ्गार। छिटकी चाँदनी, तैरता चाँद। बरसते मकरन्दकी सर्वत्र उठती मादक सुरभि। स्त्रासबुर्गके पासका गाँव, द्रुसेनहाइम और उसीके बाहर नदीके इस कोणमें फूलों लदे निकुञ्जके बाहर मख़मली घासपर दोनों, फ़्रेड्रिका और गेटे।

[**हल्के संगीतका स्वर**]

.फ्रेड्रिका—आओ, वसन्तके गायक, सुना दो अपना भुवन-मोहन राग ।

गेटे—.फ्रेड्रिके, मेरी एकान्त सुरभि, बस बोलती जाओ। मधु घोलती चलो। तुम्हारे आलापका सम्मोहन मानव कविके परे हैं । उसकी रागपरिधिके परे ।

.फ्रेड्रिका—देखो, जोहान, रोम-रोम खुल पड़ा है, उसे निराश न करो, हृत्कमल आमूल खुल गया है, उसे सम्पुट न होने दो ।

गेटे—अच्छा, रानी । क्या सुनोगी ?

.फ्रेड्रिका—वही, पिछली कविता, जिसे कहते हो, मुझपर लिखा है, जिसे हर्डरने सराहा है—'याचना' ।

गेटे—अच्छा सुनो । [**पहले हल्की गुनगुनाहट, फिर स्पष्ट स्वर**]

मैं युग-युगका अनुराग लिये आया हूँ,
मधु ऋतुका अखिल पराग लिये आया हूँ,
तुम अपना संचित यौवन आज लुटा दो,
मैं मूक विरहकी आग लिये आया हूँ ।
मैं युग-युग० ॥

वह काम शरासन तान चला मुसकाया,
धरतीके तनपर यह अम्बरकी छाया,
उन आमोंमें वह मदिर कोकिला कूकी,
मैं मधुवनसे मधुराग लिये आया हूँ ।
मैं युग-युग० ॥

खोलो, मानिनि, अपने अरुणाधर खोलो,
इन रागबधिर कानोंमें तुम रस घोलो,
फिर कण-कणमें उन्माद सजग हो आये,
मैं इस प्रणयका राग लिये आया हूँ ।
मैं युग-युग० ॥

तुम बीचि-विचुम्बित तीर खड़ी गुंजारो,
अपने श्यामल नयनोंका सिंधु उघारो,
फिर मुक्तकण्ठसे भाव-मुरलिका टेरो,
मैं अरमानोंका बाग़ लिये आया हूँ।
मैं युग-युगका अनुराग लिये आया हूँ॥

[**गूँजती लौटती-सी आवाज़ सूनेपनको भरती-सी**]

वाचक—दोनों चुप हैं। सुननेवाला भी, सुनाने वाला भी। फ़्रेड्रिका गेटेकी ओर देख रही है। गेटे आकाशकी ओर। गेटे जब फ़्रेड्रिकाकी ओर देखता है, आँखे चार होती हैं। पर फ़्रेड्रिका चुप है। कवि मुसकराता है, पर प्रेयसी निरुत्तर आसमान देखने लगती है।

गेटे—फ़्रेडा, चुप क्यों हो, प्राण ?

[**कोई उत्तर नहीं**]

गेटे—रानी !

फ़्रेड्रिका—[**उच्छ्वास छोड़ती हुई**] जोहान, तुम मानव नहीं हो।

[**आवाज़ भर्रायी हुई है, कुछ भारी-भारी**]

गेटे—फिर कौन हूँ, फ़्रेडा ?

फ़्रेड्रिका—उन्हींमेंसे कोई जिनके नाम लिया करते हो—होमर, ओसियन, उनके देवता, स्वर्गके गायक, शायद शेक्सपियरकी कल्पनाके कोई अभिराम नटवर।

गेटे—[**हलका हँसता हुआ**] क्या ?

फ़्रेड्रिका—नहीं, होमर और ओसियनका संसार सूना है कवि, वर्जिल-होरेसका भी, शेक्सपियरका भी। नहीं पा रही हूँ वह नाम, प्रियवर, जिससे संबोधन करूँ, जिसमें तुम्हारे रागका सारा उन्माद समा जाये।

गेटे—कहाँ विचर रही हो, रानी, किधर भटक पड़ी हो ?

फ़्रेड्रिका—सुनो, गेटे ! सुनो, भला कौन है वह भारतीय कवि-नाट्यकार जिसकी सुकुमार छबि वह शकुन्तला है ?

गेटे—कालिदास, कालिदास !

फ़्रेड्रिका—कालिदास, और उसका वह नायक ?

गेटे—दुष्यन्त ।

फ़्रेड्रिका—आह ! बस-बस ! दुष्यन्त । तुम दुष्यन्त हो, मेरे अभिराम गायक । पर अरे रे रे !

[**बेहोश हो जाती है ।**]

गेटे—[**उद्विग्न होकर**] क्या है, फ्रेड्रिका ? क्यों क्यों ? यह क्या ? अरे क्या हो गया ? क्या बात है प्राण ?

फ़्रेड्रिका—कुछ नहीं, कुछ नहीं, मेरे राजा । क्षणभरको उस मायावीकी याद आ गई थी । कहाँ हूँ, जोहान ?

गेटे—यहाँ मेरे अंकमें, सुमुखि । उस मायावी दुष्यन्तसे दूर । द्रुसेनहाइम-की इस मकरंदलदी उपत्यकामें । इस वासन्ती उपवनमे हम तुम दोनों, अकेले ।

फ़्रेड्रिका—और मेरे प्रिय, तुम उस मायावीका-सा आचरण तो न करोगे ?

गेटे—दुर पगली ! मैं तुम्हारा एकान्त अनुचर सदा तुम्हारा रहूँगा । सदा इसी आश्रमकी उपत्यकामें ।

फ़्रेड्रिका—नहीं, जोहान, उस स्थलकी याद फिर न दिलाओ । रोंगटे खड़े हो जाते हैं । आश्रमकी बात याद आते डर हो आता है ।

गेटे—डरो मत, रानी । घबड़ाओ नहीं । मै सर्वथा तुम्हारा हूँ, सदा । चलो, घर चलें ।

फ़्रेड्रिका—चलो । पर मन जाने कैसा हो गया । भला होता जो उस नाटककी याद न आयी होती । कविता सुनकर ही क्यों न चुप

रह गयी। क्या कुछ गुनने लगी। और वह मायावी याद आ गया।

गेटे—अच्छा सुनो, मन ठीक हो जायगा।

[गुनगुनाना। फिर स्पष्ट गायन, बाजेका हल्का स्वर]

गगन-पथ पर चाँद चढ़ता जा रहा है,
भाव अन्तरसे उमड़ता आ रहा है,
मौन मनसे राग कढ़ता आ रहा है,
प्रणयका उन्माद बढ़ता जा रहा है।
गगन-पथ पर०।

नील अम्बर कानमें कुछ गुनगुनाता,
मौज में दक्खिन पवन अभिराम गाता,
एक पंछी रात सूने मौन सन्‌सन्
नीड़को बेचैन उड़ता जा रहा है।
गगन-पथ पर०।

नीड़ मेरा भी, मगर रीता, अकेला,
मैं बसेराहीन राही क्लान्त तन-मन,
भाग अपना माँगता हूँ आतिथेयी,
और बरबस अश्रु झरता जा रहा है।
गगन-पथ पर०।

पर अरे यह खिन्न मन कम्पित कलेवर,
तुम ज़रा अपने सम्हालो कोप-तेवर,
और अपना भ्रशरासन, देखता हूँ,
तीर तरकशसे कढ़ा जो आ रहा है।
गगन-पथ पर०।

पर भला यह रूप क्या मृगप्यास होगा?
या किसीके प्यारका उपहास होगा?

मौन तोड़ो आज बोलो शीघ्र वरना
यातनाका मान बढ़ता जा रहा है।
गगन-पथ पर०।

[दूर हटती इन्हीं पंक्तियोंको दुहराती आवाज़]

वाचक—गेटे वेज़लरमें है। अपने जीवनका नितान्त भावुक काल वहाँ बिता रहा है। संसारको वह यथावत् नहीं ले पाता। उसे वह अपनी मनःस्थितिके अनुकूल, मौसिमके अनुकूल, कभी तो नरक-सा भयानक देखता है कभी स्वर्ग-सा काम्य। कोई पेशा उसे पसन्द नहीं, कोई चीज़ नहीं जो उसे बाँध सके। प्रोमेथियस लिखता अनियंत्रित प्रोमेथियस बन जाता है। उसे आज़ादी चाहिए, उन्माद। वसन्तमें वह आनन्दके आँसू बहाता है, होमरकी पंक्तियाँ ही उसे आश्वस्त कर पाती हैं। बाल-नृत्यमें वह लोती बूथसे मिलता है। फिर तो उसकी भावुकता सारे प्रतिबन्ध तोड़ बह चलती है। उसकी प्रेयसी दूसरेकी वाग्दत्ता है पर वह उस बातकी परवाह नहीं करता। बेज़लरमें जब गर्मियाँ आती हैं काम अपना शरासन कानों तक खींच लेता है। जन-जन मगन होता है, मन-मन विभोर। नदियोंका कलकल बरबस अपनी ओर खींचता है। फूलोंके सौरभसे लदा पवन अनजाने पैठ मनको गुदगुदाता है। ऐसी ही गर्मियोंमें सफ़ेदोंकी डोलती छायामें वही सुकुमार लोती, वह मदिर गेटे—

लोती—मेरे सलोने जादूगर, तूने जो अपनी छड़ी घुमा दी है, अन्तरङ्ग बेबस हो गया है। अब सम्हाल।

गेटे—मैं क्या सम्हालूँ लोती? मेरा तो रोम-रोम स्वयं उस पीड़ाका शिकार है जिसे न झेलते बनता है, न छोड़ते। ऐसा नहीं कि नारी मैंने

जानी न हो लोती, पर अबकी जैसे उसका पागल कर देनेवाला प्यार नस-नसमें पैठ गया है, भिन रहा है ।

लोती—[**हँसकर**] पहचानो, मेरे मधुर मित्र ! सचमुच क्या उस अन्तरमें मैं ही हूँ या कोई और है ? तुम जैसे मधुपका क्या ? आज यहाँ मँडराये, कल वहाँ गुजार किया और अभिराम कुसुम एकके बाद एक तुम्हारे तीक्ष्ण रस-शोषकोंसे बिधते गये । तुम्हारा भाग्यशाली अंक ख़ाली कब रहा है ?

गेटे—भ्रम है तुम्हारा, रानी । जीवन एक मात्र तुम्हारे आमोदसे उन्मद है, मात्र तुम्हारी व्याधिसे पीड़ित, तुम्हारे प्यारसे आलोडित । अन्तरङ्गके पीड़ास्थलपर हाथ रखता हूँ, उसे पकड़ नहीं पाता । नहीं जान पाता तुम्हारा वह छलिया रूप कहाँ घर किये बैठा है, सदा मेरी पकड़से दूर, गहरे, और गहरे, पहुँचसे दूर गहरे ।

लोती—रात कठिन होती है, बोल्फगांग, आजकल सुरमयी तारों भरी रात, खिलखिलाती व्यंग करती । खिड़कीसे देखती करवटें बदलती हूँ । अन्तरके मेरे विचारोंकी भाँति चमकता तारा उठता है, पीछे लम्बी सुनहरी लीक छोड़ता दौड़ पड़ता है, टकराकर टूट जाता है, हजार-हज़ार टूक, जैसे मेरी हजार-हज़ार कणोंमे बिखरी छितराई साधें । काँप जाती हूँ डरसे, मेरे मित्र । नहीं जान पाती रहस्य उसका क्या है । कोई जैसे मेरे ही हियेसे मेरा सरबस लिये जाता है दूर, बहुत दूर, रेंगती डैन्यूबके जंगलोंकी ओर, आलसकी भेदभरी काली मालाओंके परे ।

गेटे—और मै जैसे सुन्न । सूनी अँधियारीमे कुछ टटोलता पर पाता नहीं हूँ । दूर गाते हुए स्वरकी चोट जैसे नसोंमें समा जाती है । भूला सपना जैसे जी उठता है । लगता है किसीने एक साथ साज़पर ज़ोरसे हाथ मार दिया और दिलका हर तार झन्ना उठा, देर तक झन्नाता रहा ।

लोती—कितना दूर है वह ऊपरका संसार, गेटे, और लोग उधर जानेका कितना प्रयास करते हैं। कितने गिरजे, कितने सम्प्रदाय उस ओर पहुँचनेका प्रयत्न नहीं कर रहे? पर सच कितना सूना है वह जगत्। और अपना यह संसार कितना भरा है, चाहे पीड़ाओंसे ही क्यों न भरा हो, चाहे सिसकती यादोंसे ही क्यों न हो, टूटी साधोंसे ही क्यों न हो!

गेटे—लोती, कितनी कमनीय हो तुम? तुम्हारे ये मधुर भाव कितने कोमल हैं, कितने विकलकारी। और इससे तुम अपनी अभिनव कान्तिसे भी कितनी अधिक आकर्षक हो जाती हो, तुम शायद नहीं जानतीं। शायद यह भी नहीं कि तुम्हारी इन मदिर जिज्ञासाओंमें, इनकी भोली प्रतीतोंमें उस दक्खिनी हवाका जादू होता है जो जब तब प्रभातकी अँगड़ाइयों-सा जंगलोंमें भटक पड़ता है।

लोती—तुम्हारा यह ललाट, कवि, सदा मुझे गोथिक शील्डकी याद दिलाता है, फिर मध्यकालीन वीरोंकी, और फिर आर्थरसे एकिलिस तककी एक परम्परा-सी बन जाती है।

गेटे—पर क्या पेरिसकी याद नहीं आती?

लोती—नहीं, मेरे पेरिस, पेरिसकी नहीं। क्योंकि मुझे राही प्रोमेथियस प्यारा है, प्रोमेथियस सीमाएँ न माननेवाला, सदा अतृप्त प्यासा, सतत अनुरागका दिव्य वाहक, यद्यपि अति मानव फ्रांकेन्स्टाइन नहीं।

गेटे—तुम कितनी मधुर हो, कितनी मादक, कितनी अभिनव कान्तिमती! तुम्हारी आँखें रजनीके रहस्योंसे भरी हैं, पलक बोझिल हैं। मदिर, पर कितनी निष्ठुर हो तुम, मेरी आफ़्रोदीती, मेरी क्रूर वीनस! [**पास आकर घुटने टेक देता है**] जीवनको

तिरस्कृत न करो, भुवनगायिके, रंग भर दो इसमें **और हवाएँ** क्षितिजपर उसे ले उड़ेंगी, उस अभिरजित सुरभिको।

लोती—बहके, बहक चले तुम, मेरे कोमल गायक। मेरे प्रोमेथियस, अब तुम्हारे असंयत विलासके पख खुल पड़े। चेतो, नहीं फ्रान्केन्सटाइन की छाया पड़ चली है। शीघ्र, वरना उसकी महाकायिक जिह्वा हम दोनोंको चाट जायेगी। और अब चलो, देर हुई। [**चलनेको होती है**]

[**गेटे जैसे निद्रासे जाग उठता है**]

गेटे—देखो, अभी नहीं, लोती। अभी न जाओ। अन्धेके पट जैसे खुल पड़े हैं। पल्लव-पल्लव रजनीके झरते आसवकण, मुक्ताभ हिमकण लेनेको पुलक उठा है। जाओ नहीं, विश्वास रखो, प्रोमेथियस फ्रान्केन्सटाइन न होगा, न होगा फ्रान्केन्सटाइन, मानो।

[**दूर हटती आवाज़**]

लोती—फिर-फिर, मेरे असंयत प्रियतम, फिर मिलेंगे। जब तक बुद्धिरूपी विकल बातास कामजलदको क्षितिज पार बहा चुका होगा। अल्विदा, जोहान! अल्विदा प्रिय! और अगली रातें, अगले दिन मुबारक!

वाचक—लोतीको गेटे अब भी प्रिय है पर लोती जानती है वह रसप्रिय भ्रमर है, संसारी जीव नहीं। स्वयं उसे अल्बर्ट कुछ विशेष प्रिय नहीं है, कम से कम गेटे जितना नहीं। पर उसमें संयम है, वह कभी प्रणयके उन्मादमें नहीं खोती, उन्माद उसे हो ही नहीं सकता। लोतीका उससे विवाह हो चुका है। फिर भी वह गेटेसे निरन्तर मिलती है, पर ईमानदारीसे, पतिके साथ पूरी वफ़ादारी बरतती। गेटेकी ओरसे वह कभी उदासीन, कभी विमन न हुई। उसी पुरानी रीतिसे, पुराने प्यारसे मिलती रही। सालों। फिर एक रात जब

अल्बर्ट नही थां, गेटे अपने कमरेमें बैठा कुछ लिख रहा था, नौकरने प्रवेश कर कहा, फ़ाऊ चारलोती बूथ ।

गेटे—[**वेगसे उठते हुए**] स्वागत, लोती ! बड़े भाग्य जो पग इधर फिरे । आज अकेले कैसे ?

लोती—आज गेटे, अल्बर्ट नहीं है । पर मैं अकेली भी नहीं हूँ, जोहान ।

गेटे—[**इधर-उधर देखता हुआ**] कहाँ ? कोई तो नहीं है । किसके साथ आई ?

लोती—[**धीरेसे**] अपने प्रोमेथियसके साथ, उसके फैले असीम डैनोंकी रक्षामें, उसके फैले प्यारके घेरेमें ।

गेटे—[**कुछ गम्भीर होकर, भारी घहराती आवाज़में**] क्यों सोया उन्माद जगाती हो, लोती ? क्यों खामोश साज़को छेड़ती हो ? क्या मतलब इस तेवरका ?

लोती—मतलब कि अभिसार करने आई हूँ । अपने प्रिय जोहानसे मिलकर प्यारका भार हल्का करने ।

गेटे—नहीं समझा, लोती, और समझाओ भी नहीं वरना सीवन टूट जायेगी, सीवन जो सालों रसमें डूबती उतराती रही है । न तोड़ो उसे ।

लोती—सुनो, गेटे ! आज मैं तुमसे कुछ साफ़-साफ़ बात करने आयी हूँ । इधर आ जाओ, इधर पास ।

[**गेटे धीरे-धीरे पास आ जाता है । उसके पैरोंके पास घुटनोंके बल बैठ जाता है ।**]

लोती—नहीं-नहीं, कुर्सीपर बैठो । रहने दो यह भूमिका और ध्यानसे मेरी बात सुनो ।

[**गेटे चुपचाप कुर्सीपर बैठ जाता है । और चुपचाप देखता रहता है**]

लोती—गेटे, तुम समझते हो मैं तुमसे दूर-दूर रहने लगी हूँ। मैंने तुम्हें छोड़ दिया है, इसलिए कि अल्बर्टसे ब्याह कर लिया है। भूलते हो, गेटे। आज भी इस हृदयमें प्यारकी आग वैसे ही धधक रही है जैसे पहले धधकती थी। सुनते हो, गेटे!

गेटे—[**बहुत हल्केसे**] सुनता हूँ। कह चलो।

लोती—आग पहले भी हियेमें धधकती थी, आज भी धधकती है। पर आज तुम उन राखमे बसी सुलगती चिनगारियोंको देख नहीं पाते। और मै चिनगारियोंको ज्वालाका रूप नहीं दे सकती। क्योंकि तुम और वह अल्बर्ट निश्चय दोनों उनके बहुत पास हो, लपटोंसे दोनोका अनिष्ट हो सकता है। पर विश्वास करो, दोनोंको गरम रखनेसे इन्कार मैं नहीं करती। मैं फिर भी तुम्हें प्यार करती हूँ, कवि।

[**लोती चुप हो जाती है, गेटेको देखती है**]

गेटे—चुप कैसे हो गई, लोती ?

लोती—इसलिए कि तुम कुछ कहना चाहोगे।

गेटे—मैं ? नहीं।

लोती—नहीं, गेटे, तुम्हारे मनमें कुछ है, पूछो।

गेटे—सचमुच अगर तुम मुझे प्यार करती थीं, लोती, तो तुमने मेरे विवाहके इशारोंको ठुकरा क्यों दिया ?

लोती—क्योंकि, गेटे, तुम विवाहके लिए नहीं बने हो। विवाह करके बँधना होता है। तुम बँध नहीं सकते, विवाह तुम्हारे लिए नहीं है। और यदि तुमसे विवाह करती, तो तुम्हारे साथ मैं भी नष्ट हो जाती। आज जीवित रहकर तुम्हारी भी रक्षा, दूरसे ही सही, कर पाती हूँ। और तुम्हें यदि प्रस्ताव करनेका अवसर देती तो उसे अस्वीकार कर तुम्हे अपमानित करना मुझे अंगीकार

न था । पर तुम कहीं टूट न जाओ । मैं भी टूट न जाऊँ, इससे मेरा ब्याह कर बँध जाना नितान्त आवश्यक था । पर अब जो इधर तुम्हारी बढ़ती हुई गम्भीरता देखी तो रहा न गया । आई कि एकबार सब कुछ तुमसे कह तो दूँ । तुम्हें, 'फ़ाउस्ट'के रचयिताको स्थिति समझते देर नहीं लगनी चाहिए ।

गेटे—[**उच्छ्वास छोड़कर**] लोती, घाव भरा न था, पर उसे दबा रखा था । अब शायद वह फिर एक बार खुल जाए । पर मैं तुम्हे ग़लत नहीं समझूँगा । जानता हूँ, तुमसे ग़लती नहीं हो सकती, नारीसे ग़लती नहीं होती । सही, तुमने अगर वह संसार न सम्हाला होता तो सारा उजड़ गया होता, मिट गया होता । न तुम होतीं न मैं होता । आज हम दोनों हैं, पर, खै़र, कैसे हैं वह नही कह सकता ।

लोती—गेटे, मनको मत धिक्कारना । उसने अनुचित कुछ नहीं किया है । उसे केवल संयमका कवच दो ।

गेटे—दूँगा लोती, दूँगा उसे संयमका कवच । पर मनमें कवचका भार धारण करनेकी शक्ति है या नहीं, सो नहीं कह सकता । चाहूँगा कि तुम्हारी, अल्बर्टकी, राह न काटूँ ।

लोती—नहीं, गेटे नहीं । इसीलिए आज मैं यहाँ आयी हूँ, सुनसान रात-की राह, अकेली । कोई कुछ भी कह सकता है, पर आई हूँ कि हम सब एक राह चलें, जिसमें राह काटनेकी बात हो न आये । बोलो, चलोगे ?

गेटे—नहीं कह सकता, लोती, पर प्रयत्न करूँगा । अभ्याससे अँधेरी कठिन राह भी सूझने लगती है, सर हो जाती है । कोशिश करूँगा ।

लोती—कोशिश करो, गेटे, बस कोशिश करो । सब सम्हल जायगा । और न भूलो कि लोती आज भी सूने दिलके बीरानेमें एक मूरत निहारा करती है, कुछ गुनगुनाये स्वरोंको याद करती है, गुनगुनाती है ।

तुम जानते हो, गेटे, वह मूरत किसकी है, वे गुनगुनाये स्वर किसके हैं ?

गेटे—जाओ, लोती, अब जाओ।

लोती—जाती हूँ, जोहान। मेरे प्रेमके एकमात्र अवलम्ब, जाती हूँ। चली! तुम सुखी रहो! जियो, कि मैं भी जिऊँ। अल्विदा, मेरे सदाके सहचर, विदा!

वाचक—गेटेका विदा-स्वर शायद चारलोती न सुन सकी। वह तब तक चली जा चुकी थी। गेटे अवसन्न पड़ा रहा, उसी कुर्सीपर घण्टों। उसे यह भी ख्याल न रहा कि रातके अँधेरेमें लोती अकेले आयी है, उसे पहुँचाना होगा।

[**सालों बाद**]

वाचक—गेटे अपनी स्थितिसे बेचैन है। पतझड़के बाद सर्दियाँ आई हैं, अब उसे होमर नहीं सुहाता। ओसियनकी रुग्ण कल्पना ही उसके हृदयको छू पाती है। अपने ही समान नायककी कल्पना कर वह 'तरुण वर्दरके विषाद' उपन्यास लिख डालता है। अन्तर बस इतना है कि उपन्यासका नायक वर्दर अपनी स्थितिसे बेक़ाबू होकर आत्मघात कर लेता है। गेटे चुपचाप दूर चला जाता है। उपन्यास जर्मन समाजके ऊपर बमकी तरह फट जाता है। लोती अपना औचित्य अब भी निभाती है। पर गेटे दूर होटलके कमरेमें हालकी लिखी कविता पढ़ता है।

[**आवाज़ पहले धीरे-धीरे गुनगुनाती-सी, फिर मधुर विकम्पित गायन, हल्के वाद्यका स्वर**—]

प्राण, मेरा मन न जाने आज कैसा हो रहा है,
आज जैसे विजन वन में विकल मानस रो रहा है,

आज मन पर बिजलियाँ हैं टूटतीं आतीं निरन्तर,
आज रग-रग शिथिल, तनगति मन्द मन्थर,
आज अन्तर मथित विचलित शान्ति अपनी खो रहा है,
प्राण, मेरा मन० ।
रागिनी है विलख पड़ती, चाँदनी है दहन करती,
मलयवारि न क्लान्ति हरती, क्षुब्ध मनमें ग्लानि भरती,
आज तन यह वेदनाका भार जैसे ढो रहा है,
प्राण, मेरा मन० ।
आज वाणी मूक, कुण्ठित कण्ठ, क्षण-क्षण गात कम्पित,
वक्ष शक्ति विसार, पल-पल आह भरता है प्रलम्बित,
यातनासे द्रवित कण-कण आज जैसे सो रहा है,
प्राण, मेरा मन० ।
स्वेदसिक्त विभोर तन है, नीर-बोझिल नयन-पथ है,
चेतना है मूढ़ तन्द्रित, कल्पनाका भग्नरथ है,
अश्रु कणसे आज विरही यक्ष हार पिरो रहा है ।
प्राण, मेरा मन० ।
आज इस अन्तरगगनमें क्षुब्ध झंझावात उठते,
आज क्रन्दनवारिसे जैसे हमारे प्राण घुटते,
काल आज कराल अपने कुलिश-पाश सँजो रहा है,
प्राण, मेरा मन० ।
प्रणय का वह राग गा दो, राग जो सम्बल हमारा,
अन्यथा मृतप्राय है हतभाग्य यह विरही तुम्हारा,
घोर दुर्दिन में यहाँ जो आज धीरज खो रहा है,
प्राण, मेरा मन० ।

वाचक—उसी होटलमें वाइमारका तरुण ड्यूक ठहरा हुआ है । कविताका स्पंदित वाचन वह सुनता है, व्यग्र हो उठता है । वह स्वयं प्रणय-

कातर है। जान लेनेपर कि कवि गेटे है, वह उसे वाइमार चलनेको आमन्त्रित करता है। गेटे निमन्त्रण स्वीकार कर लेता है। वहीं वह वीगांड और शिलरसे मिलता है, वहीं उसके प्रायः पचास वर्ष व्यतीत होते है, कवि शासक, राजनीतिज्ञके रूपमें। वहीं वह फ्रांसीसी राज्यक्रांतिका शोर सुनता है। बास्तिलकी गिरती दीवारोंकी धमक, लुई और मारी अन्त्वानेतके गिरते सिरोंकी करुण आवाज़ और उस रोब्सपियरके सिरके गिरनेकी, जिसने गिलोतिनकी ओर जाते-जाते भी अपने बालोंमे पाउडर लगाया था। और गेटेने व्यंगपूर्वक मुसकरा दिया था। नेपोलियन सम्राट् होकर ज़ेनामे जर्मनी, आस्ट्रिया और वाइमारकी शक्ति तोड़ चुका है, जहाँ गेटेका प्रभु स्वयं वाइमारका ड्यूक हारकर सब कुछ खो चुका है। उसी वाइमारको फ्रेंच सेनाके सिपाही लूट रहे हैं। अब वे गेटेके घर पहुँचते हैं—

[गलियों सड़कोंपर रह-रह कर सेनाके भारी पैरोंकी आवाज़, लुटते घरोंसे सिपाहियोंके मारे बच्चों-बूढ़ोंकी आवाज़, जब-तब चलती गोलियोंकी आवाज़, मरते हुओंकी आवाज़, आबरू लुटती औरतोंकी आवाज़]

क्रिस्टिना—अब क्या होगा, जोहान ? सुन रहे हो यह ?

गेटे—सुन रहा हूँ। पर होगा क्या ? वही जो होता आया है। जो हो रहा है। आस्ट्रिया गया, प्रशा गया, वाइमार गया, रह जायेगी बस यही यतीमोंकी पुकार, आसमानको छेदती दिशाओंमें घुमड़ती।

क्रिस्टिना—काश आज एम्परर मेरे सामने होता !

गेटे—हँ-हँ, क्रिस्टिना, एम्परर मानवीय आधारोंके परे हैं। जो वह उन्हींको देख पाता तो ये हरे-भरे खेत आज सहसा लाल लहूसे क्यों भर जाते ? आस्टरलित्स क्यों होता ? ज़ेना क्यों होता ? वाइमारमें

यह खून-खराबी क्यों होती ? और रही तुम्हारे सामने एम्परर के होनेकी बात, तो उसका उत्तर प्रशा और आस्ट्रियाके राजकुल देंगे। कवियोंकी अभिराम कल्पनाओंकी केन्द्र प्रशाकी रानीके सामने वह रह चुका है, गायकोंकी स्वप्निल व्यंजनाओंकी आधार आस्ट्रिया की आर्चडचेज़के सामने वह जा चुका है। भला उससे क्या होता है ?

[**सिपाहियोंकी आवाज़—मारो ! पकड़ो ! गोलीकी आवाज़, नौकरका गिरकर कराहना**]

क्रिस्टिना—हाय, घुस आये। हेरासकी आवाज़ थी यह !

गेटे—मार डाला उसे !

[**दोनोंका बाहर जानेके लिए उठना। सहसा संगीनके साथ सिपाहियोंका प्रवेश**]

सैनिक १—लाओ, सब रख दो !

सैनिक २—बैठे ताक क्या रहे हो, जैसे कहींके ड्यूक हो !

[**पासके कमरेमें ताले टूटनेकी आवाज़**]

क्रिस्टिना—हाय, सब तोड़ डाला !

गेटे—क्रिस्टिना, धीरज !

सैनिक ३—[**प्रवेश करता हुआ**] तिजोरीकी चाबी दे दो, जल्दी दे दो !

गेटे—[**चुप**]

कप्तान—[**प्रवेश करता हुआ**] चाबी मिल गई ?

सैनिक ३—उठता क्यों नहीं ! ऐंठा है जैसे ड्यूक है।

[**गेटेकी ओर संगीन लिये बढ़ता है**]

क्रिस्टिना—ज़ालिम, ड्यूकसे बढ़कर है वह, संसारके कवियोंका मुकुटमणि गेटे। [**गुच्छा फेंककर**] ले चाबियाँ।

सैनिक—हा, हा, ज़ालिम, खूबसूरत ज़ालिम ? कवि ! हा, हा, कवि ?

कप्तान—ठहरो, ठहरो। क्या कहा ? क्या गेटे ? वोल्फ़गांग गेटे ?

क्रिस्टिना—जोहान वोल्फगांग गेटे ! वाइमारका डिप्लोमेंट-जेनरल वोल्फ-गांग गेटे, कवि गेटे। यह कौन आ रहा है ?

[**सहसा दौड़ते शिलरका प्रवेश, कप्तानको रुक्का देते हुए**]

शिलर—कप्तान, यह एम्पररका हुक्म !

[**कप्तान पढ़ता है**]

[**शिलरसे मिलनेके लिए गेटे बढ़ता है। क्रिस्टिना हाथ बढ़ा देती है, शिलर चूमता है, दौड़कर फिर वह गेटेके गले लग जाता है।**]

क्रिस्टिना—खूब आये शिलर !

गेटे—शिलर !

शिलर—गेटे !

कप्तान—महाकवि, मैं शर्मिन्दा हूँ ! यह एम्पररका हुक्म है—'कवि गेटेके घरकी रक्षा करो'।

क्रिस्टिना—घर तो उजड़ चुका है। रक्षा अब किसकी होगी ?

गेटे—शान्त, क्रिस्टिना !

कप्तान—मुझे बड़ा खेद है ! आगे और धोखा न हो इससे सैनिक आपके द्वारकी रक्षा करेंगे। अल्विदा !

[**सैनिकोंसे**] दो सैनिक यहाँ रहकर बराबर घरकी रक्षा करो। किसी ओरसे कोई हमला न हो, सावधान !

[**सैनिक और कप्तानका प्रस्थान**]

गेटे—खूब आये, शिलर !

क्रिस्टिना—खूब आये ! जान बच गई।

शिलर—शुक्र खुदाका ! जीससकी हज़ार शुक्रिया !

गेटे—जेनाका क्या हाल है ?

शिलर—जेना तबाह है, मारकाट मची है, ड्यूक बचकर निकल गया है।

गेटे—वाइमारको क्या कहूँ ?

शिलर—वाइमारका हाल देखता आ रहा हूँ ।

वाचक—गेटे, क्रिस्टिना और शिलर धीरे धीरे दूसरे कमरेमें जाते हैं । सोनेके कमरेमें, ग्रन्थागारमें । विस्तर बिखरे है, पुस्तकें बिखरी हैं, बक्सोंके ताले टूटे पड़े हैं, चीजें, जो बची हैं, बाहर फैली हैं, बाक़ी क़ीमती चीजें सिपाहियोंके किट-बैगोंमे चली गई हैं ।

गेटे—शिलर, देख रहे हो ?

शिलर—देख रहा हूँ । शर्म !

गेटे—[**व्यंगसे**] फ्रांसीसी राज्यक्रान्तिका यह शालीन परिणाम !

शिलर—गेटे, अन्याय न करो, यह एम्पररके कारनामोंका परिणाम है, कोर्सिकाके लुटेरेका । नेपोलियनका और नेपोलियन क्रान्तिका शिशु नहीं, उसका हत्यारा है ।

गेटे—क्रान्ति और एम्परर ! 'त्रासका राज' और नेपोलियनके क़ानून !

[**गेटे चुपचाप कुर्सीपर बैठ जाता है, घरसे बाहर दूर और निकट सैनिकोंकी आवाज़, लूट-खसोटकी आवाज़, गोलीकी आवाज़, घायलोंकी आवाज़**]

वाचक—गेटेके मरनेके दो वर्ष पूर्व । क्रिस्टिना अब वृद्ध गेटेकी पत्नी है । वाइमारके अपने घरमें दोनों बैठे हैं । पतझड़के दिन । आसमान सूना सूना लगता है । पेड़ नंगे हैं, बल्लरियाँ नंगी हैं, एकाधपर पत्तियाँ छायी हुई हैं । दिनका तीसरा पहर है । गेटेका विशाल शरीर बुढ़ापेसे सिकुड़ गया है, बाल भी कुछ झड़ गये हैं, श्वेत केशोंके गुच्छे फिर भी शालीन सौन्दर्य व्यक्त करते हैं । क्रिस्टिना गेटेसे बहुत छोटी है, प्रायः पचीस वर्ष । पचाससे ऊपरकी है पर रूप रंग कुछ ऐसा है कि चालीससे अधिक नहीं लगती । सालों महाकविके साथ मित्र भावसे उसीके घरमें रह चुकी है और अब उसने उससे ब्याह कर लिया है । तीसरे पहर गेटे उससे साहित्य

पढ़वाकर सुना करता है। अभी अभी ओसियनका एक अंश सुनाया है।

गेटे—क्रिस्टिना, रहने दो। आज बस बस।

क्रिस्टिना—क्या बात है, प्रिय, आज ऐसी उदासी क्यों? पढ़ रही थी और लगता था कि तुम्हारा मन कहीं और है।

गेटे—सही, क्रिस्टिना, मन मेरा काव्यसे दूर था।

क्रिस्टिना—कहाँ? क्या स्मृतियाँ घूम पड़ी थीं।

गेटे—हाँ, स्मृतियाँ। कहीं जाती नहीं वे। मनके कोनेमें उनका अंबार जैसे दबा रहता है, कुछ समान-सा, जहाँ उधर भटका कि जैसे ऊपर का ढक्कन खुल गया और एकके बाद एक वे निकलने लगती हैं। मनुष्य नहीं जानता, कितनी शक्ति है उसमें। दूर दिनों-सालों-की सँजोयी स्मृतियोंका वह धनी है, कितना विशद, कितना विपुल कोष है उसका, क्रिस्टिना!

क्रिस्टिना—बड़ा विपुल, असीम। पर क्या कभी उन्हीं स्मृतियोंकी याद मन-को दुःखी नहीं कर देती?

गेटे—सही, क्रिस्टिना, दूधारी हैं वे। दोनों ओर चोट कर सकती हैं, करती हैं। कभी-कभी आदमी उनसे बचना भी चाहता है, बच पाता नहीं।

क्रिस्टिना—भला आज किसकी याद आयी, जोहान?—फ्रेड्रिकाकी? चारलोतीकी? मिनीकी?

गेटे—नहीं रानो, उनकी नहीं, यद्यपि उनकी याद भी आती है। अनेक बार आयी है, बह गये जलकी तरह, अचानक उड़ आये बादलों-की तरह। पर अभी उनकी याद नही कर रहा था।

क्रिस्टिना—फिर किसकी, प्रिय?

गेटे—आज मुझे अपने सिद्धान्तगुरुकी याद आयी, हर्डरकी और उस

अभिनव गायक शिलरकी, जो देखते-ही-देखते दिगन्त तक व्याप्त हो गया था और देखते-ही-देखते उसीमें एक दिन विलीन भी हो गया।

क्रिस्टिना—पर हर्डरकी भावसत्तासे आज तुम कितने दूर हो, कवि !

गेटे—सही, क्रिस्टिना, पर हर्डर यदि न होता तो शायद मैं भी आज न होता। बाक़ी, हाँ, आन्दोलनोंसे अब मेरा संपर्क न रहा। शिलर संभवतः आज नहीं होता जो मैं हूँ।

क्रिस्टिना—शिलर, हाँ, मधुर गायक शिलर !

गेटे—और लेसिंगकी याद आयी।

क्रिस्टिना—लेसिंगकी, जिसके बुद्धिवादके अखाड़ेको तोड़नेमें तुम्हारा ख़ासा हाथ रहा है। [**हँसती है**]

गेटे—सही, पर लेसिंग कितना महान् था, इसकी कल्पना तुम नहीं कर सकतीं, क्रिस्टिना। उसकी कल्पना वह कोई नही कर सकता जिसने लेसिंगको न देखा, उसके युगको न जाना।

क्रिस्टिना—प्रिय, तुम विषादकी ओर बह चले। कहीं तुम्हारे उपन्यास 'वर्दरके विषाद'की भाव-भूमि तुम्हारे मनमे न उतर पड़े। निश्चय पतझड़का प्रभाव तुम्हारी चेतनापर पड़ने लगा है।

गेटे—सही, क्रिस्टिना। पर उसकी एकमात्र दवा तुम हो। तुम जो, इतने पतझड़, इतने शिशिर देखकर भी सतत वसन्त बनी रहीं।

क्रिस्टिना—उसका कारण है, कवि।

गेटे—कहो, कालको चुनौती देनेवाली, बोलो कारण उसका ?

क्रिस्टिना—कविका सामीप्य। तुम्हारे निकट हज़ार साल रहकर भी मैं अपनी कान्ति सुरक्षित रख सकती हुँ, प्रियवर। [**हँसती है**]

गेटे—[**हँसता हुआ**] पर सतत यौवनको कालिदासके साहित्यमें, संस्कृत-की परम्परामें क्या कहते हैं, जानती हो न ?

क्रिस्टिना—जानती हूँ—उर्वशी, मेनका। यानी, कवि, अब तुम गालीपर उतर आये न ?

[दोनों हँसते हैं]

गेटे—आज, क्रिस्टिना, सुबहसे ही कालिदासकी याद आती रही है, महाकविकी शकुन्तलाकी। कितनी सरल कल्पना है रानी, कितनी सुकुमार, कितनी मदिर, कितनी शालीन !

क्रिस्टिना—और होमर, ओसियन ?

गेटे—ठहरो, क्रिस्टिना, ओछा न करो उस देश और कालका अतिक्रमण कर जानेवाले कविको। वह कैशोर पार तारुण्यकी भूमिपर यौवनका स्वस्थ भोला पदन्यास, प्रकृतिकी उन्मुक्त वायुमें कामाङ्कुरका प्रस्फुटन, और····

क्रिस्टिना—और असमय ही छलिया भ्रमरका महर्षिकी अनुपस्थितिमें आक्रमण ! **[हँसती है]**

गेटे—[**हँसता हुआ**] और दरबारमें नारीत्वका कितना उद्दाम चुनौतीभरा आचरण। सब याद आता रहा, एकके बाद एक। क्रिस्टिना, भला वह करुण पद तो सुना दो। तुम्हारी वाणीसे महाकविकी भारती बड़ी मधुर लगती है।

क्रिस्टिना—कौन-सा ?

गेटे—मरीचिके आश्रमवाला। दुष्यन्त शकुन्तलाको लाञ्छित कर दरबारसे निकाल देता है। वह मरीचिके आश्रममें चली जाती है। अंगूठी देखकर जब राजाको उसकी याद आती है, राजा हृदयको लक्ष्यकर तब कहता है, 'हत् हृदय, जब मृगनयनीने बार-बार तुम्हें जगाया, कहा, उठो, मुझे चेतो, तब तुम न चेते और आज जब दुःख तुम्हें ठोकर मार रहा है तब तुम उसकी गहराई नापने उठ पड़े हो, अभागे !' फिर दुष्यन्त देवासुर-संग्राममें चला जाता है। वहाँसे जीतकर जब लौटता है तब मरीचिके आश्रममें उतर पड़ता है।

उस शान्त वातावरणमें कण्व नहीं, मालिनी तटका वह ब्रह्मचर्याश्रम नहीं, दुर्वासा नहीं, मरीचि है, पके जीवनका फल भरत है, नई कोपलोंके फूटनेसे पहलेका पतझड़ है। और तभी वहीं चुपचाप पति द्वारा परित्यक्ता, भाग्यकी मारी शकुन्तला अपना विरहव्रत निभा रही है। क्रोध पिघल गया है, राग, साधनाके कारण, वरदान बन गया है, व्रत कठिनसे कठिन वैराग्यको भी जीत लेनेकी शक्ति रखने लगा है। दुष्यन्त स्तब्ध रह जाता है, जब उसे पतिके व्रतमें लीन देखता है—शकुन्तला मलिन वस्त्र पहने हैं, कठोर नियमोंके अनुकूल एकवेणी धारण किये हुए अत्यन्त कठोरहृदय पतिके लिए अत्यन्त कठिन विरहव्रत कर रही है।

क्रिस्टिना—अच्छा, वह वसने परिधूसरे वसाना····?

गेटे—हाँ, वही, 'वसने परिधूसरे वसाना।'

क्रिस्टिना—अच्छा सुनो [**वाद्यका हल्का मधुर स्वर**]—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥

नई दिल्ली में तथागत

दृश्य १

[तुषित स्वर्गसे बुद्ध जब पृथ्वीपर उतरने लगे तब पालमके हवाई अड्डेपर बड़ी चहल-पहल देखी। हवाई जहाज़ोंको उड़ते, चढ़ते-उतरते देखा, उनकी आवाज़ कानके पर्दे फाड़ने लगी। तथागत और आनन्द दोनों काषाय पहने जो वहाँ आसमानसे उतरे तो चकित इधर-उधर देखने लगे। उनको लेने पणिक्कर आये थे। दो काषायधारी ज्योतिष्मान् व्यक्तियोंको उन्होंने भूमिपर उतरते ज़रूर देखा पर पहचान न सके। फिर उनकी ओर धीरे-धीरे बढ़े।]

पणिक्कर—[**अपने आप**] ये तथागत तो हो नहीं सकते। मूर्तियोंसे सर्वथा भिन्न हैं। वैसे स्वप्नमें जो समय दिया था वह तो हो चुका। [**घड़ी देखकर**] पृथ्वी और स्वर्गकी घड़ीमें कुछ फ़र्क पड़ सकता है। चलूँ इन्हींसे पूछूँ, सम्भव है ये उनके पार्षद हों, इन्हें पहले ही भेज दिया हो। इन्हींसे पूछूँ [**जाते हैं**]।

तथागत—आनन्द !

आनन्द—सुगत !

तथा०—पणिक्कर नहीं आये ! समयसे सपना दे दिया था न ?

आनन्द—हाँ तथागत, सपना तो समयसे दे दिया था।

पणि०— [**पास जाकर**] नमामि, भन्ते ! मैं पणिक्कर हूँ। तथागत क्या पधार रहे हैं ? आप सम्भवतः उनके अग्रसेवक हैं।

तथा०—[**आनन्दसे पालीमें**] यह क्या आनन्द ?

आनन्द—चकित मैं भी हूँ सुगत।

तथागत—[**प्रत्यभिवादन करते हुए हिन्दीमें**] तथागतको पहचाना नहीं ?

आनन्द—[**पणिक्करसे तथागतकी ओर इशारा करते हुए**]—आप; तथागत ?

पणि०—[**चौंक कर**] ऐं ! तथागत ? पर तथागतकी शकल तो—

आनन्द—मूर्तियोंसे नहीं मिलती !

[**तथागत और आनन्द एक दूसरेको देखकर हँसते हैं, पणिक्कर लजाते हैं।**]

पणि०—[**सकुचाते हुए**] जी-ई, भन्ते।

आनन्द—मूर्त्तियाँ काल्पनिक है, मित्र। तथागतके निर्वाणके पाँच सौ साल पीछे बनीं। पहली मूर्ति यूनानी शिल्पीने कोरी। और मूर्ति-से-मूर्ति बनती गई। शक्ल मिले कैसे ?

पणि०—[**तथागतसे सिर झुकाकर**]—सुगत, अनजाने दोष हुआ, क्षमा करेंगे।

तथा०—[**हँसते हुए**] कुछ बात नहीं, पणिक्कर, कोई बात नहीं।

पणि०—सुगत, पहले एक बात बता दें—संस्कृतमें बोलूं, पालीमें या हिन्दी में ? हिन्दी भाषा-भाषी मैं स्वय नहीं हूँ पर अभ्यास कर लिया है।

तथा०—संस्कृत बोलना तो मैंने जीवन-कालमें ही छोड़ दिया था, वैसे सुना है कि यहाँ कुछ ऐसे लोग भी है जो सस्कृतको ही राष्ट्रीय भाषा बनाना चाहते हैं ! [**तीनों हँसते हैं**] पाली बोलनेकी भी आवश्यकता नहीं। हिन्दीका अभ्यास कर लिया है। आनन्दने सतर्क कर दिया था कि यदि हिन्दीमें न बोला तो काले झण्डोंका सामना होगा।

पणि०—[**मुसकराते हुए**] अनुमति दें तो एकाध बातें और समझा दूँ—

तथा०—बोलो !

पणि०—जब किसी राष्ट्रका प्रधान, प्रधान मन्त्री या राजनीतिक व्यक्ति आता है तब हमारे राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री या 'चीफ़ आफ़ प्रोटो-

कल' स्वागतके लिए आते हैं। तथागत तीनोंसे भिन्न हैं, इससे स्वागतके लिए उनका आना नहीं हुआ। तथागत उनके यहाँ न आनेका अन्यथा न मानेंगे। और सुगत सार्वजनिक स्वागत पसन्द नही करेंगे। वैसे सुगत चाहें तो उपचारतः राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्रीसे मिल सकते हैं। दोनों सज्जन हैं, मिलना स्वीकार कर लेंगे। मिलकर प्रसन्न होंगे।

आनन्द—नही, पणिक्कर, तथागत किसीसे मिलना नही चाहेंगे। उनका उद्देश्य दूसरा है। नगर देखकर लौट जायँगे।

पणि०—पर एक प्रेस-कान्फ्रेन्स तो करनी ही होगी, भन्ते!

तथा०—प्रेस-कान्फ्रेन्स? वह क्या?

पणि०—वही समाचार-पत्रोंके प्रतिनिधियोसे मिलना, उनके प्रश्नोंका उत्तर देना, तथागत।

तथागत—समाचार-पत्र?

पणि०—हाँ, सुगत, उनमें खबरें छपती हैं। उन्हें पता नहीं है, वरना इस हवाई अड्डेपर ही अखबार बेचनेवाले चिल्लाते होते 'दिल्लीमें तथागत! दिल्लीमें तथागत!'

[**तथागत और आनन्द एक-दूसरेको कौतुकसे देखते हैं।**]

आनन्द—फिर तो प्रेस-कान्फ्रेन्ससे हो-हल्ला मचेगा। इसे न करें तो कैसा?

पणि०—उसके बिना कैसे बनेगा, भन्ते? [**तथागतसे**] सुगत, उसे अस्वीकार न करें। मैं उसके लिए एकान्तका प्रबन्ध कर लूँगा। फिर कोई बात छपेगी भी नहीं समाचार-पत्रोंमें। चाहे सार्वजनिक स्वागत न रखें।

तथा०—अच्छा, कर लो! पर अन्तिम दिन।

पणि०—भला, सुगत।

[**मोटरमें प्रस्थान**]

दृश्य २

[**राष्ट्रपति-भवनका संग्रहालय। परिणक्करने अध्यक्षको मूर्तियों-का रहस्य समझानेके लिए बुला लिया। उसे बताया नहीं कि समागत तथागत और आनन्द हैं। अध्यक्ष बुद्धको उनकी मूर्तियाँ समझाने लगा—**]

अध्यक्ष—[**मथुराकी खड़ी मूर्ति दिखाकर**] यह बुद्धकी मूर्ति है, अभय-मुद्रामें खड़ी। ऐसी मूर्ति बुद्धकी कभी न बनी।

आनन्द—तथागतने तो अपनी मूर्ति बनानेका निषेध कर दिया था न?

अध्यक्ष—वही तो हीनयान था।

तथा०—हीनयान?

अध्यक्ष—हाँ, छोटा शकट; जैसे महायान, बड़ा शकट।

तथा०—बुद्धसे इन शकटोंका भला क्या सम्बन्ध है?

आनन्द—ठहरिए, आपको शुरूसे समझाना होगा—देखिए, जब भगवान्ने अपनी मूर्ति बनानेका निषेध कर दिया तब केवल उनके पद, छत्र बोधि-वृक्ष आदि प्रतीकोंसे ही उनकी उपस्थितिका बोध कराया जाता था। फिर जब पहली सदीमें बोधिसत्त्वका महायान चला तब समीपके देवताकी आवश्यकता पड़ी। इससे बुद्धकी मूर्ति बनी, बोधिसत्त्वोंकी मूर्ति बनी, आनन्द आदि उनके चेलोंकी बनी।

तथा०—पहली सदी ईसवी! बोधिसत्त्व! महायान!

[**आनन्द कुछ चकित हैं, परिणक्कर सकुचा रहे हैं**]

अध्यक्ष—ईसवी सदी, ईसाकी। ईसा—क्राइस्ट, उसीके संवत् ए० सी०, बी० सी०—समझे?

[**तथागत आनन्दकी ओर देखते हैं, दोनों चुप हैं**]

बोधिसत्त्व, सम्बुद्ध होनेके पहलेकी स्थिति है। उसने कहा था—

बुद्धका बताया अर्हत्‌का मार्ग स्वार्थपर है, अकेले निर्वाणका, मैं तो तब तक निर्वाण न लूँगा जब तक एक व्यक्ति भी अनिर्वण्ण रह जायगा। अर्हत्‌का मार्ग हीनयान है, उसपर एक ही प्राणी चढ़कर भवसागर पार हो सकता है। महायान हमारा मार्ग है। महा-यान, जिसपर चढ़कर सभी पार हो सकते हैं। इसीसे बोधिसत्त्वकी मूर्तियाँ बुद्धसे संख्यामें कुछ कम नहीं हैं।

आनन्द—[**तथागतसे स्वर्गकी बोलीमें जो अध्यक्ष और पणिक्कर नहीं समझ पाते**] सुना, भगवन्, यह बोधिसत्त्व तो बड़ा अगिया-बैताल निकला! आप ही पर लकड़ी लगा गया! आपके पन्थको हीनयान बताकर अपना महायान बना गया। बड़ा सयाना निकला यह तो। [**तथागत मुसकराते हैं**]

आनन्द—पर यह मूर्ति कैसी है? इसके सिरपर यह क्या है?

अध्यक्ष—'बम्प आफ़ इन्टेलिजेन्स,' प्रतिभाका चिह्न, और यह ऊर्णा है।

आनन्द—और ये लम्बे-लम्बे कान भी क्या बुद्धके थे?

अध्यक्ष—[**कुछ रुखाईसे**] जी [**पणिक्कर सकुचाते हैं**] [**दशावतारकी मूर्ति दिखाकर**] इसमें भी यह नवीं मूर्ति बुद्धकी हो है। यहाँ ये विष्णुके अवतार हैं।

आनन्द—विष्णुके अवतार!

अध्यक्ष—हाँ, महायानके बाद वह तो होना ही था।

आनन्द—[**तथागतसे स्वर्गकी भाषामें**] लीजिए, सुगत, जिस ब्राह्मण परम्परापर आपने प्रहार किया था, जिसके देवता विष्णु-ब्रह्मा-शक्र तथागतके पार्षद थे, उन्हींकी श्रेणीमे, वह भी अवतार, और गौण अवतार बनाकर, सुगतको बैठा दिया!

[**तथागत मुसकराते हैं**]

[**मध्याह्न हो गया है। पणिक्कर तथागतको लंचके लिए चलनेका आग्रह करते हैं। फिर धीरे-से अध्यक्षके कानमें कुछ**

कहते हैं। वह आँखें फाड़-फाड़कर तथागतको देखने लगता है, फिर बार-बार उनकी ओरसे उनकी मूर्तियोंकी ओर देखता है। बुद्ध आदि चले जाते हैं।]

अध्यक्ष--[**व्यंगकी हँसी-हँसता हुआ**] हुँ ! तथागत बने हैं ! जैसे मै तथागतको जानता ही नहीं। इन्हीं मूर्तियोंमें मेरी ज़िन्दगी गुज़री और मैं बुद्धको न पहचानूँगा ! ढाई हज़ारवाँ साल है न निर्वाण-का, एकसे एक नज़ारे देखनेमे आयेंगे। एकसे एक भेस देखनेको मिलेंगे। देखो न, क्या रूप बनाया है ! और यह पणिक्कर ! राजनीति जो न करा दे !

दृश्य ३

[लोकसभाकी राहमें]

आनन्द--युग बदल गया है, सुगत, लोगोंके व्यवहार ममझमें नहीं आते।

तथा०--हाँ, युग बदल गया है। तुमने जो दुनिया देखी थी उसके आज ढाई हज़ार साल हो चुके।

पणि०--जी, तबसे हमारी संस्कृतिमें बड़ा अन्तर पड़ गया है। इस बीच अनेक संस्कृतियोंका हमारी संस्कृतिपर प्रभाव पड़ा, अनेक संस्कृ-तियाँ हमारी संस्कृतिसे घुलीं-मिलीं, हमारी संस्कृति नवीन हुई।

[**तथागत और आनन्द दोनों पणिक्करका मुँह देखते हैं**]

आनन्द--सस्कृति क्या ?

पणि०--आ हाँ, संस्कृति हमारा नया गढ़ा हुआ शब्द है। यह देशका आचार-व्यवहार, रहन-सहन, आहार-लेबास, आदर्श-विश्वास, धर्म-दर्शन आदि प्रकट करता है।

आनन्द—नर-नारी, उनकी वेश-भूषा कितनी बदल गई है ! नारियोंकी तड़क-भड़क देखकर डर लगता है । तथागतने कहा था—

पणि०—कहा था तथागतने । पर हमारे जीवनके तो हर भागमें नारी नरके साथ है ।

तथा०—संघ मिट गया, आनन्द ।

आनन्द—संघ मिट गया, सुगत ! सुगतकी वाणी सच हुई ! सुजाता-विशाखाका यह रूप ?

पणि०—संघ फिर पनप चला है, तथागत । पर निश्चय आजका गृहस्थ प्रव्रजित कम होता है । वैसे अपने देशमें साधुओंकी संख्या कम नहीं है ।

आनन्द—लोगोंकी आस्था मर-सी गई दिखती है । मन देख-सुनकर बोझिल हो जाता है ।

पणि०—इस युगने शिष्टाचारको नये मान दिये है ।

आनन्द—हाँ, सो तो देखता हूँ—शिष्टता बहुत है, आचार कम है ।

[**तथागत आनन्दकी ओर भवोंपर तनिक बल डालकर देखते हैं, आनन्द कुछ सहमकर चुप हो जाते हैं**]

[**राहमें पणिक्कर नई दिल्लीके मकान, विशाल भवन, सचिवालय राष्ट्रपति भवन आदि दिखाते चलते हैं**]

पणि०—नई दिल्लीकी इमारतें कैसी लगीं, तथागत ? इनकी एकदृश्यता कितनी असाधारण है ?

तथा०—नहीं कह सकता, पणिक्कर । इन भवनोंमें प्रवेश करते कदाचित् भय लगे । हाँ, इनमें एकदृश्यता है, इतनी कि उनका प्रभाव अनाकर्षक हो जाता है । विभिन्नता सौन्दर्यकी जननी है, इनकी अभिन्नता साँस नहीं लेने देती ।

पणि०—यह इण्डिया गेट है । इसकी शिला-शैलीको तनिक लक्ष्य करें, सुगत ।

तथा०—हाँ, देखता हूँ—भारतने शिल्पकी अनेक धाराएँ इस बीच धारण की है। पर अनेक बार तो इनका उच्छिष्ट रूप ही देखनेको मिलता है। प्राचीन असूरी और यवन-ग्रीक शैलीके भोड़े-फूहड़ नमूने अधिक देखनेमें आते हैं। कहीं-कहीं पिछले कालके साँची-शिल्पकी सुरुचिपूर्ण अनुकृति भी दिख जाती है। हाँ, आनन्द इस्लामी शिल्प निश्चय स्तुत्य है, पर वह भी पुराना ही है। देखता हूँ, भारतने इधर अपना कुछ नहीं किया है—केवल आभासोंकी परम्परा खड़ा करता गया है। इसीसे इसके नर-नारी भी कृत्रिम यात्रिक प्राणी-से लगते हैं। लगता है, आनन्द, कभी ये कुछ सोचते नहीं, स्वयं। 'लेबल' लगा लेते हैं। नारियोंमें असाधारण अनाकर्षण है, एक प्रकारका घिनौनापन, आनन्द, सघके लिए एक प्रकारसे इनसे कुछ ख़ास डर अब नहीं है। पर आज तो संघ ही नहीं रहा, आनन्द ! [**लम्बी साँस खींचते हैं**]

[**लोकसभाके द्वारपर। पणिक्कर तीनोंके कार्ड संत्रीको दिखाते हैं। सब लोग भीतर पहुँच जाते हैं। दर्शक-गैलरीमें बैठ जाते हैं। निर्वाणके ढाई हज़ारवें सालके समारोहके ख़र्चपर विचार हो रहा है।**]

प्रधान मन्त्री—मैं तो समझता हूँ कि हमे इस समारोहको राष्ट्रीय 'लेवेल'-पर लेना चाहिए।

[एक **महान् गुजराती लेखक उठते हैं, अभी फिरसे चुनकर आये हैं। छरहरा-पतला बदन, सुदर्शन, सुरुचिसे सजे।**]

गुज०—फिर सोमनाथके मन्दिरके निर्माणको राष्ट्रीय 'लेवेल' पर क्यों नहीं लिया जाता ?

प्र० मं०—देखिए, मस्लोंको मिलायें नहीं, वह और बात है। बुद्धकी

समझकी कितनी ज़रूरत हमारी आजकी दुनियाको है, अहं बात यह है। सोमनाथके मन्दिर और इससे कोई निस्बत नहीं।

[**एक बंगाली सदस्य उठते हैं**]

बं० स०—हमको बुद्ध जोयोन्ती शे कीछू बिरोध नहीं है। जरूर मानाइए बुद्ध जोयोन्ती। ओ हामरा है। दशावतारोंमें हामरा वह एक्टा अवतार है। वह बेश है। परन्तू हामरा बात यह है जे जब हीन्दू शबाका बात होता है, जन शंघका बात होता है, राम-राज-परिषदका बात होता है तब कीछू बात राष्ट्रीय नहीं होता, शोमनाथका निर्मान राष्ट्रीय बात नहीं होता, बुद्धका हो जाता है, शेई बात हम कहना माँगता है। और कीछू बात नहीं है, शेई बात हम बोला—

[**सब हँसते हैं।**]

अध्यक्ष—आर्डर ! आर्डर ! [**घण्टी**]

तथा०—यह भारतका संथागार है ?

पणि०—सुगत, यह हमारा 'संथागार' है।

आनन्द—आसन प्रज्ञापक कहाँ हैं ?

पणि०—वहाँ, वह तिरछी नीची बारकी गाँधी टोपीवाले।

आनन्द—शलाका ? शलाकागाहापक ?

पणि०—अब यहाँ शलाका नहीं चलती, भन्ते, पर गुप्त मत देनेका प्रबन्ध है। मत या तो अध्यक्ष गिन लेता है या उसके लिए किसीको नियत कर लेते हैं।

[**तथागत कुछ शान्त चिन्ताशील हैं।**]

आनन्द—भगवान्ने कहा था—यदि देवताओंकी सभाको देखना चाहो तो वज्जियोंके कार्यशील राजाओंको देखो।

तथागत—देवता मिट गये, आनन्द, बज्जी मिट गये, लिच्छबी मिट गये, विदेह न रहे, मल्ल न रहे, शाक्य तो मेरे सामने ही नष्ट हो गये थे !

[इसी समय बाहर शोर मचता है—'विनोबा भावे ज़िन्दाबाद !' 'सर्वोदयका झण्डा फहरा दो !' 'लोहिया ज़िन्दाबाद !' कांग्रेसकी किसानी नीति मुर्दाबाद !' समाजवादी दलका जलूस निकला है उसीका लोक सभाके द्वारपर प्रदर्शन है। तथागत, आनन्दको लिये पणिक्कर बाहर आते हैं। जलूसमें एक किसान सहसा छेड़ देता है 'भारतका डंका आलममें बजवा दिया बीर जवाहरने' !—जलूसके नेता चिल्लाते हैं—'अरे ! अरे ! यह नहीं, यह नहीं, यह गाना नहीं। अरे वह दिनकरकी कविता गाओ, 'जयप्रकाश नारायण' पर।' पर पहले रागने ज़ोर पकड़ लिया। पूरा जलूस वीर जवाहरका आलममें डंका बजाना गा उठता है। लोक सभाके सोशलिस्ट सदस्य, जिन्होंने प्रदर्शन संगठित किया था, घबड़ाकर 'हाय ! हाय !' करते बाहर निकल आते हैं। पर अब तो जवाहरका जस अम्बर चूमने ही लगता है। तथागत और आनन्द चकित-चमत्कृत देखते रहते हैं।]

दृश्य ४

[प्रेस कान्फ्रेन्स। राजघाटके पास लानपर प्रेस-कान्फ्रेन्स हो रही है। अनेक अंग्रेज़ी-हिन्दी पत्रोंके रिपोर्टर आये हुए हैं। सब भारतीय पत्रोंके ही प्रतिनिधि हैं। अंग्रेज़ और अन्य विदेशी पत्रकार उस कान्फ्रेन्ससे अलग रखे गये हैं। उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्धमें बड़ी सतर्कता रखी गई है।

सबसे प्रतिज्ञा करा ली गई है कि स्वान्तःसुखाय वे चाहें जितने प्रश्न तथागतसे करें, पर उन्हें छापें हरगिज़ नहीं। इसका पूरा इन्तज़ाम कर लिया गया है कि किसी प्रकारका 'स्कूप' संभव न हो सके। जिस प्रश्नका तथागत चाहें उत्तर दें, चाहें न दें। यदि उनमेंसे किसीका उत्तर बुद्धकी जगह आनन्द देना चाहें तो दे सकें। बुद्ध वीरासनमें बैठे हैं। कुछ हटकर आनन्द बैठे हैं, पास ही पणिक्कर, सामने पत्रकारोंका समुदाय बैठा है।]

पणिक्कर—मित्रो, आप सबको पता ही है कि किन परिस्थितियोंमें आजकी यह प्रेस-कान्फ्रेन्स हो रही है। आशा करता हूँ, आप लोग शान्त चित्तसे प्रश्न करेंगे। पर उसके पहले, मैं तथागतसे प्रार्थना करूँगा कि वे दो शब्द आपसे कह लें।

तथा०—[**बैठे-ही-बैठे**] उपासको, सद्धर्मके शरणागतो, तुम्हारा मंगल हो! तथागत इस धरापर आज कोई ढाई हज़ार वर्षोंके बाद आये हैं। आशा थी कि उपसम्पदा, प्रव्रज्याकी महिमा बढ़ी होगी, निराश हुए। संघ, देखते हैं, विच्छिन्न हो गया।

[**सब एक-दूसरेको देखते हैं। किसीके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। अलग-अलग कानाफ़ूसी होने लगती है। पणिक्करसे लोग कहते हैं कि अब प्रश्नोंका मौक़ा दिया जाय। पणिक्कर आनन्दके कानमें कहते हैं, आनन्द तथागतके कानमें। तथागत चेष्टासे बता देते हैं कि उन्हें मंजूर है। पहला प्रश्न 'पत्रिका'का प्रतिनिधि करता है जिसे राष्ट्रपति भवन संग्रहालयके बंगाली अध्यक्षने बुद्ध-संबंधी अपनी प्रतिक्रिया बता दी है।**]

पत्रिका-प्रति०—भगवन्, आपकी शक़्ल हमारे संग्रहालयोंकी आपकी मूर्तियोंसे क्यों नहीं मिलती ?

[**बुद्ध चुप हैं—उत्तर देना नहीं चाहते—आनन्द भी चुप हैं**]

हिन्दी पत्रिका-प्रति०—बोलें, भगवन्, उत्तर दें !

[**बुद्ध चुप**]

हिन्दुस्तान टाइम्स—उत्तर तो देना चाहिए !

टाइम्स [**बम्बई**]—अच्छा, आप किस स्वर्गमें रहते हैं, तथागत ?

तथागत—सुगत निर्वण्ण हैं ।

पत्रिका०—निर्वण्ण क्या ?

[**बुद्ध चुप**]

फ्रीप्रेस०—भगवन्, आपके निर्वाणकी तिथि क्या है ?

तथा०—वैशाख-पूर्णिमा ।

क्रानिकल०—साल बतायें, तथागत ।

तथा०—आजसे दो हजार पाँच सौ अट्ठावन वर्ष, नौ मास, तेरह दिन पूर्व ।

अनेक पत्रकार—तिथि बताइए, तिथि, संवत्, साल ।

आनन्द—तब कोई सवत् प्रचलित न था ।

आर्यमित्र०—वाह, यह कैसे हो सकता है ? सृष्टि-सवत् तो सदासे है ।

आनन्द—यानी मनुष्य-जन्मसे भी पहलेसे ?

आर्य०—जी !

आनन्द—उसका उपयोग भला कौन करता था ?

[**तथागत, आनन्द, पणिक्कर मुसकराते हैं ।**]

पत्रिका०—तथागतने जो अपने निर्वाणकी तिथि बतायी वह तो हमारी जयन्तीकी तिथिसे प्राय: उनसठ साल पहले ही बीत गई ।

[**सभी पत्र उत्सुक हो उठते हैं**]

पत्रकार [**एक साथ**]—हाँ, हाँ, यह कैसे ?

[**बुद्ध चुप हैं**]

पत्रिका०—ओल्डेन्बर्ग फिर क्या झूठा है ? सेनार, लवी सब गलत है ?

टाइम्स—कर्न, ल्यूडर्स, टामस, सब ग़लत ?

[**बुद्ध चुप हैं**]

हिन्दुस्तान०—कावेल, डेविड्स, ब्लाख़ सब ?

पत्रिका०—आर अमादेर राखाल बाबू ?

[**बुद्ध चुप**]

[पणिक्कर देखते हैं कि बड़ी अभद्रता हुई जा रही है, तत्काल कान्फ्रेंस बन्द कर देते हैं। केमरे 'क्लिक-क्लिक' बजने लगते हैं। पणिक्कर मना करते हैं कि कान्फ्रेंसकी शर्तके मुताबिक तस्वीर नहीं लेनी है। पर तस्वीरें तो ले ही ली गईं।]

[और दूसरे दिन देशके सारे पत्रोंमें फोटूके साथ निकल गया बुद्धके वेशमें धूर्त ! ढाई हज़ारवें समारोहमें ठगनेका प्रयत्न ! अंग्रेज़ी 'पत्रिका'ने सम्पादकीय लिखा—'एक्सपोज्ड !' हिन्दी 'पत्रिका'का सम्पादकीय और भी भड़क उठा—'तथागतका पर्दा फ़ाश !' और प्रातः ही लोगोंकी भीड़ पणिक्करके आवास पर ऐसी लगी कि पणिक्करकी तो अतिथिके अपमानसे आत्मा ही कूच कर चली। बाहरके द्वार बन्द कर तथागतके सामने करबद्ध खड़े हो जाते हैं।]

तथा०—[**मुसकराते हुए**] तुम्हारा कुछ दोष नहीं, पणिक्कर। तथागत आश्वस्त हैं, तुम आश्वस्त होओ !

आनन्द—[**घबड़ाहटमें**] सुगत, बाहरके द्वार तोड़े जा रहे हैं, टूटने ही वाले हैं। बड़ी भीड़ है, जल्दी करें, अपनी ऋद्धि-सिद्धियोंका

प्रयोग, नहीं तो जान संकटमें पड़ जायेगी। जल्दी करें, सुगत, यह पत्रोंकी दुनिया है, पत्रकारोंकी ! जल्दी !

[द्वार टूट जाते हैं। भीड़ बँगलेमें धँस चलती है। पर जब तथागत वाले कमरेमें पहुँचती है तो उसे खाली पाती है। बस पणिक्कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ खड़े रहते हैं।]

●

रानी दिद्दा

[श्रीनगर। काश्मीरके राजा क्षमगुप्तका दरबार। मेहराबी दरवाज़ोंपर तोरणके नीचे भारी हंसचित्रों वाले परदे पड़े हुए हैं। राजा मुसाहिबोंके बीच बैठा हँस रहा है और मुसाहिब हर प्रकारसे उसे हँसा रहे हैं। चापलूसीका बाज़ार गर्म है।]

राजा—रुय्यक, कामिनी और कंचनका नाम भला एक साथ क्यों लिया जाता है?

रुय्यक—देव, दोनों कमनीय हैं, इसलिए।

हिम्मक, यशोधर—[**एक साथ**] साधु, रुय्यक, साधु! कमनीय दोनों ही हैं, सच।

मंठ—देव, पर मुझे यह उत्तर कुछ जँचा नहीं। देवकी आज्ञा हो तो दास भी कुछ निवेदन करे।

राजा—निश्चय, ज़रूर-ज़रूर। भला मूरखराज मंठ क्यों न अपना अटकल लगायें! बोलो, बोलो, मंठ।

मंठ—देव, कामिनी और कञ्चन दोनोंका नाम इसलिए एक साथ लिया जाता है कि दोनों मूल्यसे ख़रीदे जा सकते हैं।

दिद्दा—हुँ! मूर्ख!

राजा—[**हँसता है**] क्यों, देवि, अभद्र कहा कुछ मंठने? [**ज़ोरसे हँसता है, सब हँसते हैं, केवल रानी और रुय्यक चुप हैं।**]

दिद्दा—अभद्र तो है ही, देव, यह अशिष्ट विदूषक। पर मैं समझती हूँ, देव, अगर यह सचमुच कोई समस्या है तो इसे कवि ही हल कर सकेगा, रुय्यक ही, मठ विदूषक नहीं।

राजा—सुनी, मंठ, देवीकी बात सुनी? [**हँसता है, सब हँसते हैं।**]

मंठ—सुनी, देव! पर प्राणदान पाऊँ तो कुछ कहूँ। [**राजा रानीकी ओर देखता है, सभासद भी कुतूहलसे देखते हैं। रानी दिद्दा**

सिंहासनपर आसन बदल लेती हैं, उसकी भृकुटियाँ चढ़ जाती हैं।]

राजा—प्राणदान दो, देवि, विट और विदूषक अपने कथनमें स्वतंत्र होते हैं। अदण्डय। अभय दो उसे।

[**सब रानीकी ओर आतुर नयनों देखते हैं। मंठ अपनी आँखें आधी मींचकर होंठ चाटता है।]**

दिद्दा—[**कुछ खिझी हुई सी**] देवीका सभासदोंकों भय रहा कहाँ ? और दुर्विनीत मंठके प्राण तो अनिर्वचनीय बोल कर भी देवकी कृपासे कभी संकटमें नहीं पड़ते।

राजा—बोलो, मंठ, बोलो ! देवीका वरदहस्त तुम्हारे मस्तकपर है।

मंठ—देव, कामिनी और कञ्चन दोनों ख़रीदे तो जा ही सकते हैं पर दोनोंमें तनिक भेद है—[**तनिक रुककर**] जहाँ कञ्चन ख़रीदा जा सकता है वहाँ वह ख़रीद भी सकता है। कामिनीको भी। सो दोनोंमें मात्र कामिनी ही परार्थसाधिका है।

[**राजा मुसकराता है, सभासद् मुसकराते हैं, रानीके तेवर और चढ़ जाते हैं।]**

रुय्यक—पर देव ! कामिनीका अहम्—

मंठ—[**बात काटता हुआ**] देव ! मैंने अभी अपनी बात पूरी नहीं की।

राजा—उसे छेड़ो नहीं रुय्यक, बोलने दो।

[**रुय्यक सिर झुका लेता है, सभासद् मुसकराते हैं।]**

मंठ—[**मुसकराता हुआ**] देव, पर पहले रुय्यककी बातका ही उत्तर दूँगा—कामिनीके अहम्का। अहंवादी तीन तरहके होते हैं—पहले वे जो स्वयं रहते हैं और दूसरोंको रहने देते है। दूसरे वे जो स्वयं रहते हैं पर दूसरोंको नहीं रहने देते, तीसरे वे जो न

स्वयं रहते हैं न दूसरोंको रहने देते हैं। नारी इस तीसरे प्रकार की अहवादिनी होती है।

[**राजा हँसता हैं, सभासद् हँसते हैं, हँसीसे सारा भवन गूँज उठता है, केवल दिद्दा कुपित रहती हैं।**]

राजा—देवि, मंठका तर्क तीक्ष्ण है, हा-हा-हा !

सभासद्—[**हँसते हुए**] साधु ! साधु !

राजा—लगा, मंठ, रुय्यकके एक चपत ! तेरी गोटी लाल है। हा ! हा ! हा ! [**हँसता है**]

मंठ—यह लें, देव। [**उठकर रुय्यकके चपत लगा देता है। सब हँसते हैं, रुय्यक भी राजाके डरसे रूखी हँसी हँसता है, रानी क्रोधसे होंठ काटती है।**]

हिम्मक—देव, बात तो कामिनी और कञ्चनकी ख़रीदारीकी हो रही थी, अब यह अहंवादकी कैसे होने लगी ?

मठ—मूर्ख, हिम्मक, वीरता और बुद्धि दो चीजें हैं, परस्पर विरोधी। तर्कसम्मत बुद्धि होती तो तुम समझ गये होते—कञ्चनसे भी परे होनेके कारण नारीका अहम् जाग्रत होता है, इसीसे उसके घोर अहंवादकी बात कही। अब अगर नारीकी खरीदारीकी बात सुनना चाहो तो उसे भी कहें।

[**सब राजाकी ओर देखते हैं।**]

राजा—हाँ, मठ, उसकी भी व्याख्या कर।

मंठ—सुनें देव, सदासे नारी कञ्चनसे, द्रव्यसे, ख़रीदी जाती रही है। अप्सराओंको निष्क-शत मान मिलते थे, आम्रपालीको हज़ार सुवर्ण, वासवदत्ताको सौ सुवर्ण, वसन्तसेनाको सौ दीनार····

दिद्दा—[**बात काटकर**] मूर्ख, वेश्याएँ ही मात्र नारी हैं तुम्हारी ? कुलवधुएँ और वारागनाएँ समान हैं ?

[**राजा मुसकराता है, सब भीतर ही भीतर हँसते हैं।**]

मंठ—ढिठाई क्षमा करें, देवि, अभयदान दें। दासका बस इतना ही निवेदन है कि नारी पहले नारी है पीछे वेश्या या कुलवधू, और अपने मूलरूपमें क्रयशील हैं। हाँ, कुछको द्रव्यसे ख़रीदा जाता है, कुछ को उपायन-उपहारसे, कुछको प्रेमसे, कुछको चाटुकारी-चापलूसीसे। यदि नारी झुकती नहीं तो या तो स्थान नहीं, एकान्त नहीं या उसके प्रणयकी भीख माँगनेवाला नर नहीं।

[रानीके नथने क्रोधसे फड़कने लगते हैं, पसीना चेहरेपर छा जाता है।]

बिद्दा—देव, उपहासकी भी सीमा होती है। भाँड़को सिर चढ़ाना एक दिन अनर्थ करेगा।

राजा—शान्त हों, देवि !

[रानी ग्रासनसे उतर विना परिचारिकाकी सहायताके लँगड़ाती सभाभवनसे बाहर चली जाती है। राजा हँसता है, सभासद् हँसते हैं]

मंठ—बड़ा अपराध बन गया, देव, इस अकिञ्चन दाससे।

राजा—श्लाघ्य है मूर्ख, तू श्लाघ्य है, मंठ ! ले यह कंगन।

[राजा रतनजड़ा कंगन मंठको देता है। 'कंकणवर्षी राजा क्षेमगुप्तकी जय !' से सभाभवन गूँज उठता है। राजा राज-पुरुषकी ग्रोर देखता है, राजपुरुष कंगनोंकी थैली लिये राजाके सामने घुटने टेक देता है। राजा थैलीसे निकाल-निकाल कंकण बाँटने लगता है। 'कंकणवर्षी कश्मीरराजकी जय !' की ग्रावाज़ गूंजती रहती है]

दृश्य २

[श्रीनगरके राजमहलका रनिवास। शयनागारमें रानी दिद्दा सो रही है। दीवारोंपर सजीव चित्र लिखे हैं—कराकोरम और पामीरोंसे पीर पंजालकी बर्फ़ीली चोटियों तक। एक ओर डलमें कमलोंका बन अपना मकरन्द उड़ा रहा है दूसरी ओर ऊलरमें शिकारोंके बीचसे हंसोंके जोड़े सरक जाते हैं। गङ्गा-जमुनी पलँगपर रानी पड़ी हैं, जैसे आकाशसे तारिका टूट पड़ी हो, जैसे जूहीका निष्कलंक फूल दूधिये विस्तरपर अकेला पड़ा हो। दासियाँ भीतर भी हैं, बाहर भी, कुछ जग चुकी हैं कुछ अँगड़ा रही हैं। और तभी वैतालिकका स्वर सुन पड़ता है—]

वैतालिक १—जागें, देवि, जागें !

निशाकी वेणीको सँवारता निशाकर पीला हो क्षितिजसे कबका नीचे उतर गया है। बन्दी-भ्रमर कमल-काराके भीतर मुक्तिकी आशासे गुन-गुना रहे हैं और खण्डिताओंको मान देता दिवाकर कमलिनियोंके होठोंको चूम रहा है।

जागें देवि, जागें !

वैतालिक २—जागें, देवि, जागें !

दरद और तुख़ार, पुंछ और राजपुरी, लोहर और उरशा, मध्यदेश और गौड हाथ बाँधे आज्ञाकरणके लिए नतमस्तक हैं। मुक्तापीड़ ललितादित्यकी विजयोंकी टूटी शृंखला जोड़ें, देवि, जोड़ें !
जागें, देवि, जागें !

[रानी दिद्दा आँख मलती हुई, शय्यापर उठ बैठती है। सखियाँ उसे फूलोंके दस्ते प्रदान करती हैं, दासियाँ फूलोंसे बसे जलसे उसका मुँह धुलाती हैं। दिद्दा तकियेके सहारे करवट बैठ जाती है।]

वैतालिक ३—जागें, देवि, जागें !

रात, चोर और चाँद अपने कोटरोमें जा छिपे। दूर दक्खिनसे आया मन्द मलय तुम्हारी काजल काली अलकोंसे खेल रहा है, वातायनोंसे बालारुण उनमें अपने सुनहरे तार पिरोये जा रहा है।

दिद्दा—[**जम्हाई लेती हुई**] आह ! कितना दिन चढ़ आया। मदिरे, तूने मुझे जगाया क्यों नहीं भला ?

मदिरा—रात देरसे सोई थीं, देवि, इसीसे जगानेका साहस न हुआ।

दिद्दा—मुकुटका भार ढोना कुछ आसान नहीं, मदिरे, उस छातेकी तरह है जिससे धूपका निवारण कम होता है कर और कन्धोंका श्रम अधिक।

[**द्वारपालिका मागधीका प्रवेश**]

मागधी—देवि, मन्त्रिवर आर्य नरवाहन दर्शनके लिए द्वारपर पधारे हैं।

दिद्दा—उनसे मेरा प्रसाद कह, मागधी, लिवा ला।

[**मागधीका प्रस्थान और मन्त्रीके साथ फिर प्रवेश**]

नरवाहन—[**सिर झुकाकर**] अकिंचन नरवाहन अभिवादन करता है, देवि !

दिद्दा—सौजन्य फले, आर्य ! क्या समाचार है ?

नर०—देवीका तेज तपता है, शत्रु सहायहीन है, डामरोंके जहाँ-तहाँ उत्पात निश्चय सुन पड़ते हैं पर देवीका प्रताप उनका विद्रोह उठने नहीं देता। निश्चिन्त हों, देवि।

दिद्दा—निस्तेज डामरोंको सर्वथा शीतल कर देना होगा, आर्य ! बुझते हुए अंगार हैं वे, और एक चिनगारी भी झेलमके जलको उत्तप्त कर सकती है।

नर०—उस दिशामें भी निश्चिन्त हो, देवि। राजकर्मचारी और एकांग सैनिक सर्वत्र राजदण्डकी स्थापनामें लगे हैं। पिछले शासनने जिन

ओछे जनोंको सिर चढ़ा लिया था अत्रभगवतीकी शालीनताने उन्हें यथास्थान कर दिया है।

दिद्दा—सब आर्यके नीति-बलसे सम्भव हो सका है। मन्त्रिवरकी रक्षामें राष्ट्र नई शक्ति धारण करेगा। प्रजाका रंजन कर सके, आर्य आशीर्वाद दें।

नरवाहन—मंगल हो देवि ! शत्रुवनिताओंकी माँगसे सिन्दूर पुँछ जाय ! राजा कालका कारण होता है, प्रजा राजाके अनुकूल कालको बरतती है। देवी क्षमताशील हैं, प्रताप और विक्रमसे, विश्वास है, ललितादित्य मुक्तापीड़का गौरव लाँघ जायँगी।

दिद्दा—आर्यकी सद्‌भावना सफल हो !

[**सिर झुकाकर नरवाहन चला जाता है।**]

दिद्दा—कालिन्दी, तुम्हारे चर उपस्थित हैं ?

कालिन्दी—उपस्थित हैं, देवि। आज्ञा हो तो प्रवेश करें।

दिद्दा—बुलाओ [**कालिन्दी द्वारपालिकाको संकेत करती है, द्वारपालिका बाहर जाकर चरोंके साथ प्रवेश करती है**]

चर १—जय हो, देवि ! झेलमके दोनों ओरके प्रदेश सुशासित हैं। प्रबल दुर्बलको नहीं सताता, साहसीक देवीके भयसे थर-थर काँपते हैं, पहाड़ों और जंगलोंके मार्ग सुरक्षित हैं।

[**रानी दूसरे चरकी ओर आँख उठाती है।**]

चर २—सीमा प्रान्तके दरदों-तुखारोंमें शान्ति है। दिवंगत देवके निधनसे जो आगे खलबली मच गई थी देवीके तेजसे वह तिरोहित हो गई है। वक्षु तीरकी केसरकी क्यारियोंमें देवीके अश्व मत्त लोटते हैं और उनके अयाल केसरसे लाल हो जाते हैं।

[**तीसरा चर नारी है। उसपर रानीकी नज़र पड़ते ही वह कुछ ऐसा संकेत करती है कि रानी इशारेसे बाक़ी चरों और**

सखियोंको हटा देती है। केवल मदिरा, मागंधी और कालिन्दी रह जाती हैं।]

दिद्दा—जखी, आज क्या कुछ विशेष संवाद लाई है ? और तू तो इस वेशमें है कि मैं तो पहले पहचान ही न सकी।

जखी—हाँ देवि, पिछले सप्ताह मैं डामरोंके बीच चली गई थी। वहाँ विधवाके रूपमें रहनेके कारण मुझे सिरके बाल मुड़ाने पड़े थे। चरका कार्य कठिन होता है, बहुरूपिया बनना पड़ता है न, सो आज इस वेशमें हूँ।

दिद्दा—अच्छा बता तो भला, वहाँ क्या देखा सुना ?

जखी—लगा देवि कि डामर और दरबारसे निकाले लोग राज्यके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे हैं, कि दोनोंके बीच जो पत्र-व्यवहार होता है उसमें एक विशेष छद्म-शब्दका प्रयोग होता है। पर उस शब्दको जानते भी मुझमें देवीके सामने उसे कहनेका साहस नहीं होता।

[रानी और सखियाँ बड़े कुतूहलसे उसकी बात सुनती हैं।]

दिद्दा—बोल, जखी, बोल। कह चल, क्या है वह छद्म-शब्द ?

जखी—साहस नहीं होता देवि, जो अभयदान पाऊँ तो कहूँ।

दिद्दा—कह जखी, जानती नहीं कि चर वैसे भी अवध्य होता है ? फिर तू तो मेरी अर्थसाधिका भी इतनी घनी है। बोल।

जखी—वह छद्म-शब्द है, देवि—'पंगु'।

[सहसा रानीका मुख क्रोधसे लाल हो जाता है और सखियाँ सहम जाती हैं।]

दिद्दा—**[तमतमाई हुई, पर दृढ़ आवाजमें]** हाँ, मुझे ज्ञात है वह गाली, यद्यपि गाली वह है नहीं। मैं विकलांग हूँ सही, और मेरी सौत चन्द्रलेखाका पिता फल्गुण मुझे विकलांग कहता भी था। और जो फल्गुण भी इस षड्यन्त्रमें शामिल हो तो कुछ अजब नहीं,

पत्र-व्यवहारमें मेरा उल्लेख पंगु शब्दसे होता हो। पर मैं पंगु नहीं हूँ, और यह फल्गुण देखेगा। लोहरनरेश सिंहराजकी दुहिता और हिन्दूकुश काबुल और लमग़ानके स्वामी भीमशाहीकी धेवती शासन करना और शासनमें शत्रुओंको निर्मूल करना जानती है, यह फल्गुण देखेगा। कालिन्दी, दण्डनायकको कह कि कल सेनाके मैदानमें सैन्य-निरीक्षण होगा और उसके लिए वह मेरा विशद आदेश स्वयं मुझसे आज अर्धरात्रिको ले ले।

कालिन्दी—जैसी आज्ञा, देवि। अभी आर्य दण्डनायकसे देवीका प्रसाद निवेदन करती हूँ।

[**सबका प्रस्थान**]

दृश्य ३

[**नगाड़े, तुरही और शंखकी निरन्तर गूँज। पैदल और घुड़सवार सेनाके चलनेकी आवाज़। बीच-बीचमें सेनानायकोंके अस्पष्ट संचालनकी आवाज़। रानी दिद्दा सैन्य वेशमें मंत्रियों और दण्डनायकके साथ फैले मैदानमें सेनाका निरीक्षण कर रही है। रह-रह कर उसके घोड़ेका हिनहिनाना, उसकी टापोंकी ध्वनि।**]

दण्डनायक—देवि, अभियानके लिए प्रस्तुत यही आपकी सेना है। कहें, अपने गजोंको गङ्गा-जमुनाके संगमपर वारिक्रीड़ामे निमग्न करूँ, कहें अपने घोड़ोंसे पामीरोंको लाँघ जाऊँ। व्यूह-चक्रमें पारंगत यह सेना, देवि, अत्रभवतीके संकेतके लिए उत्सुक है। सिन्धु-झेलमके संगमसे भोटोंके परवर्ती प्रदेश तक समूचा जनविस्तार उसके भयसे थर-थर काँपता है। आज्ञा करें, देवि।

दिद्दा—आश्वस्त हुई, आर्य, विनय और तत्परतासे भरी आपकी सेनाका प्रदर्शन देखकर। यही हमारा विपुल बल है हमारे राष्ट्रकी सुरक्षाका साधन। इसे सन्नद्ध रखें, शीघ्र इसके अभियानकी आवश्यकता होगी।

[पासके मन्त्री सान्धिविग्रहिकपर नज़र डालती हुई]

मन्त्रिवर, सुना है डामरोंको उभाड़ कर फल्गुण पर्णोत्सकी दिशासे राजधानीकी ओर बढ़ा आ रहा है।

[दण्डनायक सिर झुकाकर तनिक हट जाता है]

सान्धि०—सही, देवि, हिम्मक भी फल्गुणसे मिल गया है। पर अपनी सरहदकी सेना घाटियोंकी रक्षा कर रही है, राज्य निरापद है, आशंका न करें, देवि।

दिद्दा—[**मुसकराती हुई**] आर्य, आपके-से सान्धिविग्रहिक और आर्य नरवाहनसे मत्रिप्रवरके होते, आर्य दण्डनायकसे तत्पर बलाध्यक्षके होते आशंका कैसी ? पर डामरोंका बल तोड़ राज्यको सदाके लिए निरापद करना होगा।

[तीनों मस्तक झुका लेते हैं]

सान्धि०—निश्चय, देवि ! डामरोंका बल टूटकर रहेगा।

दिद्दा—सेनाको स्कन्धावारोंमें भेज दो, आर्य दण्डनायक। उसे तीन माहका अग्रिम वेतन दो, उससे कह दो कि डामरोंका दर्प चूर्ण होते ही सैनिकोंको कर-मुक्त भूमि मिलेगी। राष्ट्रकी सेवा राष्ट्रके अपरिमित धनका अधिकारी बनाती है। सेवाका पुरस्कार उसका भोग है।

[‘रानी दिद्दाकी जय ! रानी दिद्दाकी जय !’ से दिशाएँ गूँज उठती हैं। मंत्रियोंके साथ रानी महलोंकी ओर लौट पड़ती है।]

दृश्य ४

[दिद्दाका मन्त्रागार । रानी सखियोंसे घिरी युद्धकी ख़बरके लिए उत्सुक बैठी है । द्वारपालिकाका सहसा प्रवेश]

द्वार०—देवि, आर्य दण्डनायक सेवामें उपस्थित हैं, दर्शन चाहते हैं ।

दिद्दा—आर्य दण्डनायक ! युद्धस्थलसे अलग राजद्वारपर ! उनका यहाँ क्या काम ? अच्छा, पधराओ उन्हें !

[दण्डनायकका प्रवेश]

दिद्दा—आर्य, यहाँ कैसे, जब डामरोंका विद्रोह नगर-द्वारपर चोटें कर रहा है ?

दण्ड०—अन्तिम दर्शनके लिए आया हूँ, देवि, प्रसादके लिए । डामरोंकी कुमक लिये हिम्मक प्रादेशिक अधिरोह लाँघ आया है और शत्रुकी हरावल उदयराजके हाथमें है । मै यह कहने आया, देवि, कि सम्भव है शत्रुकी चोटसे अपनी रक्षाकी प्राचीरें टूट जाँय, पर अत्रभवती उससे आशङ्कित न हों । एकांगोंकी रक्षक सेना राज-परिवारकी रक्षा करेगी जब तक कि मैं पामीरघाटीकी ओरसे शत्रुपर प्रत्याक्रमण न करूँ । मैं राजकुमारोंको अपनी रक्षामें ले निकल जानेके लिए आया हूँ ।

दिद्दा—आर्य, शाहियोंकी धेवती भयभीत नहीं । जहाँ तक हो सके कर्तव्यका पालन करें । दिद्दा अपना कर्तव्य निश्चित कर चुकी है । हिम्मक और उदयराज उसके लोहेकी चमक देखेंगे। राजकुमारोंकी व्यवस्था कर चुकी हूँ । वे रनिवासमें नहीं हैं । दूरके विविध मठोंमें हैं । राजधानीसे बाहर ।

दण्ड०—**[जाता हुआ]** चला, देवि, राजपरिवारका मंगल हो !

[प्रस्थान]

दिद्दा—जाओ, वीरवर ! कश्मीर लाज-रक्षक, जाओ। [**मागंधीसे**] अरी देख, मागन्धी, सैन्यवेश ला !

मागन्धी, कालिन्दी आदि—[**एक साथ**] ऐं, देवी क्या सैनिक वेश धारण करेंगी ?

दिद्दा—शीघ्रता कर, मागन्धी ! अब राजप्रासादमें बैठे रहनेका समय नहीं। लोहरोंकी सन्तान कुसमयमें अपना कर्तव्य जानती है। शाहियोंकी धेवती शत्रुके आक्रमणपर परकोटेके पीछे नहीं बैठती, उसने हिन्दूकुशकी बुर्जियाँ देखी हैं। कुम्भाकी लहरोंको तैर कर लाँघा है। जल्दी कर।

[**मागन्धीका प्रस्थान और रानीके सैनिक वेशके साथ फिर प्रवेश, सहसा द्वारपालिकाको हटाते हुए मन्त्री नरवाहनका प्रवेश।**]

नर०—राज्योचित उपचारकी रक्षा न करनेका अपराधी हूँ, देवि, पर क्षमा करें, सङ्कट सारे उपचारोंका उत्तर है। सिंहद्वार टूट चुका है। मित्र एकांगोंके पैर उखड़ने ही वाले हैं। अत्रभवती भागें, क्षेमस्वामीका मन्दिर अब भी सुरक्षित है। जबतक देवी वहाँ दम लेंगी, सम्भवतः अन्तोंकी सेना सहायताके लिए आ धमकेगी।

दिद्दा—[**सैनिक वेशमें सजती हुई**] आर्य अपना कर्तव्यपालन करें। सिंहराजकी बेटी संकटमें मन्दिरों और मठोंका आश्रय नहीं लेती। उसका स्थान सिंहद्वारकी हरावलमें है। चल, मागन्धी। अश्व किधर है ?

माग०—इधर-इधर, देवि !

[**प्रस्थान**]

नर०—सावधान, देवि, कश्मीर राजलक्ष्मी इस तरह अपने आप शत्रुके हाथ नहीं जाती !

दिद्दा—[**घोड़ेपर चढ़नेकी आवाज़; दूरसे दृढ़ आवाज़में**] यह रणचण्डी है, आर्य, जो शुम्भ-निशुम्भके विरुद्ध अभियान कर रही है। निःशङ्क हों, दिद्दा शक्ति है और शक्ति दर्पिल बनी रहती है, जबतक टूट नहीं जाती। जबतक अङ्गार ठण्ढा नहीं हो जाता उसे कोई छू नहीं पाता। [**शङ्ख फूंकती सिंहद्वारकी ओर प्रस्थान**]

नर०—जाओ, रणचण्डी, जाओ। जानता हूँ, तुम्हारे लिए तीसरा मार्ग नहीं। क्षेमस्वामी तुम्हारी रक्षा करें! [**सिंहद्वारकी ओर प्रस्थान करता शङ्ख फूँकता है।**]

[**शङ्खध्वनि सुनते ही महलोंकी रक्षक सेना रानीके पीछे दौड़ पड़ती है।**]

[**युद्धका कोलाहल, वीरोंकी हुङ्कार, मरते हुओंकी पुकार, चमकती मशालोंकी रोशनीमें घोड़ोंकी टापोंकी आवाज़, सहसा दूसरी ओरसे शत्रुपर हमला। देखते ही देखते शत्रुका पलायन और नवागत हमलावर सेनाका जयघोष, 'रानी दिद्दाकी जय!' 'लोहरनन्दिनीकी जय!' 'शक्तिरूपा दिद्दाकी जय!'**]

दृश्य ५

[**कश्मीरी राजमहलका सभाभवन। रानी सिंहासनासीन है। मंत्रिवर नरवाहन, सान्धिविग्रहिक, दण्डनायक आदि यथास्थान बैठे हैं। सामने शृङ्खलाबद्ध हिम्मक खड़ा है, सैनिकोंसे घिरा।**]

दिद्दा—उदयराज निकल भागा, हिम्मक, पर तू कालके गाल पड़ा।

हिम्मक—सही रानी, राजकुमार निकल गये। और कालका गाल तो प्रत्येक वीरका अभिप्रेत है।

दिद्दा—क्या समझा था तूने मुझे, हिम्मक, अबला नारी ?

हिम्मक—नहीं, रानी। हिम्मक तुम्हें अबला नहीं समझता। अगर वह तुम्हें अबला समझता तो उसे सेना लेकर आनेकी आवश्यकता नहीं होती।

दिद्दा—फिर इस राजद्रोहका मतलब क्या है ?

हिम्मक—मतलब यह है कि यह राजद्रोह है ही नहीं। शास्त्र नारीका राजासनपर अधिकार नहीं मानता, न मैं ही मानता हूँ। कश्मीर पर तुम्हारा स्वत्व साहसीकका स्वत्व है, जानो, और जीवन रहते उसका प्रतिकार करूँगा।

दिद्दा—साहसीक क्या राजा नहीं होता, हिम्मक ? क्या सारे राजकुलोंके निर्माता-पूर्वज साहसीक नहीं रहे हैं ? क्या सिंहासनपर अधिकार स्वयं राजत्वका परिचायक नहीं है ?

हिम्मक—है वह परिचायक, निश्चय। और जानता हूँ शौर्य और साहसकी तुममें कमी नहीं, और उनसे राज्यकी कर्णधार भी बनी रह सकोगी, पर हिम्मक और उदयराज तुमपर प्रहार करते ही रहेंगे, इच्छित परिणाम पर्यन्त।

दिद्दा—उदयराज शायद, पर हिम्मक निःसन्देह नहीं। क्योंकि हिम्मक सिंहिनीके दाढ़ोंके बीच आ पड़ा है।

हिम्मक—क्योंकि हिम्मक सिंहिनीकी दाढ़ोंके बीच आ पड़ा है, रानी, सही। काश कि आज वह बन्धन-मुक्त होता !

दिद्दा—तो शायद वह रानीपर प्रहार करता !

हिम्मक—रानीपर हिम्मक प्रहार नहीं करता, पर उसे वह फिर भी रूपलोभी कहता, जैसे आज भी कहता है—घिनौनी, रूपजीवा दिद्दा !

दिद्दा—हिम्मक, क्रोधकी प्रतिक्रियामें तुम्हारा न्याय न करूँगी। तुम्हें उचित दण्ड आर्य नरवाहन् देंगे। पर एक बात पूछती हूँ, हिम्मक।

हिम्मक—पूछो, रानी।

दिद्दा—गाली देते हो न मुझे, पर-पतिका होनेकी ? जो राजासन कुमार्ग-गामी पुरुषके सम्बन्धसे अशुद्ध नहीं हो पाता वही कुमार्गगामिनी नारीके सम्पर्कसे कैसे दूषित हो जाता है, भला कहो तो ?

हिम्मक—प्रगल्भ हो दिद्दा, जानता हूँ। पर यह भी जानता हूँ कि प्राण रहते नारीका स्वत्व कश्मीरके सिंहासनपर न मानूँगा। और जानती हो, इस मतका मैं अकेला नहीं हूँ।

दिद्दा—जानती हूँ, साथ ही यह भी जानती हूँ शक्तिके साथ ही स्वत्वकी अधिकारिणी रह सकूँगी। पर हिम्मक, जीते-जी मेरे हाथसे कोई शक्ति न छीन सकेगा, न सिंहासन ही। और न शक्ति और सिंहासनकी परिधिसे उस समूचे राज-सुखका भोग करूँगी जो पुरुषके लिए शास्त्रसम्मत है। नारी होने मात्रसे न उससे वंचित रहूँगी, न डरूँगी।

[**नरवाहनसे**]

आर्य, न्याय करें इस राजद्रोही हिम्मकका। मैं चली रनिवासकी समस्याओंको सोचने। विनयस्थितिकी स्थापना मेरा पहला कार्य होगा। पामीरोंकी ओरसे दण्डनायकके कुमकके साथ आनेकी सूचना मिली है। स्वागतका प्रबन्ध करें।

नर०—जो आज्ञा, देवि !

[**दिद्दा उठती है, सभी उठ खड़े होते हैं। दिद्दाका सखियों सहित प्रस्थान**]

वैतालिक—इधर, इधर पधारें, देवि !

दृश्य ६

[रानी दिद्दाका शयनागार। दिद्दा सुनहरे पलंगपर लेटी है, मागंधी पास बैठी स्वामिनीसे सखी भावसे बात कर रही है। दिद्दा कुछ उदासीन, चिन्तित-सी है।]

मागंधी—कारण क्या है, देवि, इस चिन्ताका ? संसारकी कोई वस्तु देवीको अलभ्य नहीं, कोई व्यक्ति नहीं जिसपर देवीकी दृष्टि पड़े और वह अकिंचन न हो जाय। फिर इस उच्चाटनका अर्थ क्या है, स्वामिनि ?

दिद्दा—कई दिनोंसे तुझसे एक बात पूछती रही हूँ, मागंधी।

मागंधी—पूछें न, स्वामिनि।

दिद्दा—वह कौन था, मागंधी, मंत्रिवर नरवाहनके भवनमें उस दिन जब हम उनके आमंत्रणपर वहाँ गये थे, वह आकर्षक तरुण ?

मागंधी—वह जो आर्यके दाहिने बैठा था ?

दिद्दा—नहीं जानती, मागंधी, कि कोई बायें भी बैठा था। मैंने तो बस एकको देखा था, फिर किसीको नहीं देखा, आर्य तकको नहीं।

मागंधी—और वही आँखोंमें गड़ गया था।

दिद्दा—व्याख्या न कर मागंधी, बता तू जानती है उसे कौन है वह ?

मागंधी—स्वच्छन्द बहती हवाको भला वासन्ती लताकी झूमती टहनी क्यों पूछे, देवि, कि हवा यह कौन है ? प्रवह, कि संवह, कि प्रतिवह ? क्या इतना पर्याप्त नहीं है कि वह मनको अपनी दोलामें डालकर झुला देती है ?

दिद्दा—सही, मागन्धी, मनको अपनी डोलती दोलामें डालकर झुला देनेवाली हवाकी जानकारी उससे आगे कुछ विशेष अर्थ नहीं रखती, परसती हवाकी परससे ही जान लेती हूँ कि यह प्रखर पामीरी है

या दक्खिनसे आनेवाली मलयानिल। वस्तुकी जानकारी भोगके सुखको दुगनी कर देती है।

मागंधी—खस है वह, रानी, तुंग खस, पर्णोत्सके गाँवका खस, जिसे आर्यने पत्रवाहकका कार्य सौंप रखा है। अत्यन्त आकर्षक है न, देवि, वह खस, अत्यन्त काम्य ?

दिद्दा—सही मागंधी, पर भला तूने यह जाना क्योंकर ? क्या तेरा अन्तर भी तो दग्ध नहीं हो गया ?

मागंधी—नहीं, देवि, मेरा अन्तर तो दग्ध नहीं हुआ, पर मैंने स्वामिनीकी आँखें निश्चय देखी थीं और उनके मौन संचालनसे जाना कि इस ज्ञानकी आवश्यकता होगी एक दिन, और बस संग्रह कर लिया।

दिद्दा—तू बड़ी चतुर है, मागंधी। पर यह तो बता, आर्य भला इस पत्र-वाहकको राजकीय पत्रोंके साथ मेरे यहाँ क्यों नहीं भेजते ?

मागंधी—शायद इसलिए कि कहीं इससे राजकीय पत्र और पत्रवाहक दोनों न खो जायँ और दूसरे पत्रवाहककी आवश्यकता पड़े !

दिद्दा—ढीठ ! कितना ज़बान लड़ाती है। [**दोनों हँसती हैं।**]

मागंधी—खस आकर्षक है, देवि !

दिद्दा—मैंने तो, जब तक वहाँ रही, उससे आँख ही नहीं हटाई, आर्यकी एक बात नहीं सुनी।

मागंधी—जभी तो आर्यने अपनी कही हुई बातोंको दुबारा पत्रारूढ़ कर स्वामिनीके पास भेजा।

दिद्दा—जभी। क्या सोचा होगा आर्यने, मागंधी ?

मागंधी—क्या सोचा होगा आर्यने रुय्यकके सम्बन्धमें, रुक्क और दण्ड-नायकके सम्बन्धमें, पिंगल और कंठकके सम्बन्धमें, स्वामिनि ?

दिद्दा—अच्छा बन्द कर अपनी गन्दी जबान। पर देख यह खस जो है—

मागंधी—सही, स्वामिनि। पर देवी यह धमंशास्त्रकी परिधि प्रेमके क्षेत्रमें

कबसे खीचने लग गई। 'प्रणय निर्वर्ण है, मागंधी, निःशंक !' क्या स्वामिनीने कभी नहीं कहा था ?

दिद्दा—[**थकी-सी अँगड़ाती हुई**] हाँ, कहा तो था, मागंधी ! है ही प्रणय निर्वर्ण, निःशंक ।

मागंधी—फिर यह शंका कैसी, रानी ? चन्द्रकी मरीचियोंको भेदपूर्वक सेती हो, या गंधवहके पंख चढ़ी सुरभिको चुनकर भोगती हो ? मकरन्दका सौरभ तो सर्वजनीन है, देवि, जैसे रानी सर्वजनीन है।

दिद्दा—साधु, मागंधी, साधु ! मकरन्दका सौरभ सर्वजनीन है, जैसे रानी सर्वजनीन है ।

मागंधी—और सर्वजनीन रानीके लिए कुछ भी अग्राह्य नहीं, कुछ भी अभोग्य नहीं । ब्राह्मणसे खस तक सभी उसके उपास्य हैं, सभीकी वह उपास्य है, वह समूची प्रजाका रंजन करती है—राजा प्रकृतिरञ्जनात् ।

दिद्दा—अरी तू तो बड़ी पण्डिता हो गयी, मागन्धी—श्लोकपर श्लोक गढ़ने लगी, महाभारत-कालिदासको मात कर दिया ! कहीं स्मृतिकार न बन जाय !

मागन्धी—स्मृतिकार अगर बनी तो मेरी स्मृति मनु और याज्ञवल्क्यकी स्मृतियोंसे सर्वथा भिन्न होगी । उसके आचार-नियम उनसे भिन्न होंगे, सर्वथा कश्मीरके । पर मेरी श्रुति तो तुम हो, रानी । मेरा बस इतना प्रयास होगा कि मेरी स्मृतिकी आचार-मर्यादा मेरी श्रुतिके प्रमाणसे भिन्न न हो !

दिद्दा—[**उठती हुई**] अच्छा, खड़ी रह, चुड़ैल !

[**मागन्धी भागती है फिर हाथ बाँधे लौट आती है**]

मागन्धी—क्षमा, स्वामिनि, क्षमा !

दिद्दा—आ, मागन्धी, ले लिख ले अपनी श्रुतिके अनुसार स्मृति, नये

आचारोंसे मुखरित। लिख—रानी निर्वर्ण होती है, वर्णोंसे परे, जिससे न कोई वर्ण उसे दूषित करता है न उससे दूषित होता है।

मागन्धी—कि खस उसके लिए उतना ही ग्राह्य है जितना ब्राह्मण।

दिद्दा—प्रतिलोभका निषेध उसके लिए नहीं है, कि सामाजिक आचारकी साधारण सत्ता उसे नहीं बाँधती, कि महाभूत समाधियोंसे उसका कलेवर बना है, कि वह वासनाओंको भोगकर उन्हें जीर्ण कर देती है, उनमें बँधती नहीं।

मागन्धी—ठहरो, ठहरो, देवि, रोको तनिक अपनी यह प्रवहमान वाक्यावलि! ज़रा आचार्य पुरोहितको बुला लूँ।

दिद्दा—मूर्ख! यह दिद्दाशास्त्रका पहला अध्याय है, मनु-याज्ञवल्क्यमें नहीं लिखा है जिसे पुरोहित कण्ठ कर ले।

मागन्धी—हाँ तो पत्रवाहककी दूती मैं बनूँ, रानी?

दिद्दा—बन, मागंधी, जैसे स्यावाश्वकी रजनी बनी थी, जैसे सिनीवालीका स्यावाश्व बना था। कह उससे कि रानी वर्णकी खाई लाँघ गई है, कि तुझे ऊँचे देखनेका, चन्द्रको निहारनेका, उसकी चाँदनीमें नहानेका अधिकार हैं, कि चाँदनी डलके कमलवनपर भी उसी वैभवसे पसरती है जैसे गढ़ेकी काईपर।

मागंधी—अच्छा, स्थामिनि, चली तुम्हारा दौत्य संपन्न करने।

[**जाती है**]

दिद्दा—[**स्वगत**] कितनी ऊर्जस्वित प्रशस्त उसकी छाती थी, कितनी शिराव्यंजित उसकी भुजाएँ थीं, कितना मादक उसका स्पर्श होगा, उस कमनीय खसका!

दृश्य ७

[श्रीनगरका राजमहल। रानीका मन्त्रागार। दिद्दा तुङ्गके दोनों कन्धे सामनेसे पकड़े खड़ी है। तुङ्ग अब कश्मीरका दण्डनायक है।]

दिद्दा—दण्डनायक !

तुङ्ग—निहाल हो गया, देवि, पर तुंग कहो।

दिद्दा—तुम अब कश्मीरके दण्डनायक हो, सेनाका भार धारण करते हो। राजपुरीके मैदानमें असाधारण शौर्यका प्रदर्शन कर चुके हो, मेरी विज्ञप्ति और अपने पराक्रमसे तुमने यह पद पाया है। कौन तुम्हारी उपेक्षा कर सकता है ? तुम्हारी वीरताका अपमान भला कौन करेगा ?

तुङ्ग—वीरताका मान, रानी, ललनाके सामने नतमस्तक होनेमें है। शौर्यसे लालित्य बड़ा है। मैं तो वैसे भी तुम्हारा अकिञ्चन दास हूँ। तुम्हारे प्रसादसे मेरे भाग्यका उदय हुआ है। संसारके लिए चाहे दण्डनायक होऊँ, तुम्हारे लिए, देवि, मात्र तुंग हूँ। और कामना है कि जीवन भर बस तुंग बना रहूँ।

दिद्दा—तुम जितने तुंग हो, मेरे राजा, उतनी ही मैं दिद्दा हूँ और तुम्हारे सामने केवल दिद्दा हूँ। न स्वत्वका कोई लोभ है, न शालीनताकी कोई बाधा, बस नारी मात्र हूँ, मूल नारी मात्र, जैसे तुम पुरुष हो, मूल पुरुष मात्र।

तुङ्ग—नहीं जानता, देवि, मैं क्या हूँ। जैसे स्वप्न देखकर जागा और स्वप्न सच हो गया ! विश्वास नहीं होता पर ये कमनीय भुजलताएँ साक्षी हैं कि तुम मेरी हो, और मैं सन्तुष्ट हूँ। कोई कामना, कोई याचना अब शेष नहीं रह गई।

दिद्दा—जाओ, तुंग पुंछकी घाटी तुम्हें पुकार रही है। जब तक उदयराज जीवित है, मेरा सिंहासन और तुम्हारा प्रणय निरापद न होगा। एक बार मेरे मायकेके तेजस्वी लोहर भी जान ले कि दिद्दाका प्रसादलब्ध खस उसकी सनकका परिचायक नहीं अपने अधिकार से वीरवर है। जाओ, दण्डनायक तुंग, जाओ। जयश्री तुम्हारे इस सरपेंचकी छायामें अभिराम उतरे!

[**तुङ्गका सरपेंच चूम लेती है।**]

तुङ्ग—[**जाता हुआ**] न मैं राजलक्ष्मी जानता हूँ, देवि, न शौर्यकी शालीनता। जानता हूँ मात्र दिद्दाकी सुरभित सांस जिससे मेरे नथने भरे हैं, और रोम जो उसके स्पर्शसे पुलकित हैं। महत्त्वाकांक्षा राजलक्ष्मीको सरपेंचकी छायामें उतारनेकी नहीं, उस मुसकानकी चाँदनीमें नहानेकी है जो मेरे लौटनेपर मेरी एकान्तकी सखी मेरे स्वागत पथमें बिखेर देगी। विदा, देवि सप्ताह भरके लिए विदा!

[**तुङ्ग चला जाता है। बाहर घोड़ेकी टापोंकी आवाज होती है। मागन्धी तुङ्गके जानेकी आहट पाकर जो रानीके पास लौटती है तो देखती है कि कठोरहृदय दिद्दाकी आँखोंमें आँसू भरे हैं। मागन्धी चुपचाप लौट जाती है और दिद्दा महलकी खिड़कीसे तबतक प्राङ्गणकी प्राचीरोंकी ओर देखती रहती है जबतक तुङ्गका ऊँचा मस्तक उसकी ओट नहीं हो जाता और तब उसकी आँखोंके आँसू उसके भरे श्वेत अरुणाभ कपोलोंपर ढुलक पड़ते हैं**]

दृश्य ८

[**कई वर्ष बाद। दिद्दा मरण-शय्यापर पड़ी है। उसकी सखियाँ शय्यागारके बाहर निरन्तर अपने बहते आँसू पोंछती जा रही हैं। और बाहर महलके आँगनमें सामन्त और मन्त्री दुःख और सुखकी मिश्रित भावनाओंसे एक दूसरेको हेर रहे हैं। एक ओर दिद्दाके भाई लोहरराजका पुत्र संग्रामराज शान्त खड़ा है, उस संवादकी प्रतीक्षामें जो एक साथ उसे दुःखी और सुखी करनेवाला है। दिद्दाके प्रसादका भागी होनेसे वह उसके प्रति अनुरक्त हुआ है, उसके मरणसे दुःखी होगा, पर उसकी मृत्युसे उसका भविष्य कश्मीरके आकाशपर जो छा जानेवाला है वह उसके सुखका भी कारण है। दिद्दाकी शय्याके पास केवल तुङ्ग है। उसके सुपुष्ट कन्धे नंगे हैं, और उसके काले कुन्तल उन कन्धोंपर हिल रहे हैं। पलकें उसकी आँसुओंसे बोझिल हैं। घुटनोंके बल बैठा है।**]

दिद्दा—[**कठिनाईसे आखें खोलती हुई**] आह ! कहाँ हूँ ?

तुङ्ग—यहाँ, देवि, अपने शयनागारमें, मेरे सामने। [**तुङ्गको देखती है**]

दिद्दा—तुङ्ग, अब देखा नहीं जाता, आँखें पथरा चली हैं, शक्ति क्षीण हो चली है।

तुङ्ग—आधी शताब्दी तक इन आँखोंके तेवरसे कश्मीरका शासन किया है, बड़े-बड़े पुरुषसिंह इनका तेज न सम्भाल सकनेके कारण मूर्छित हो गये हैं। अब इन्हें देखना ही क्या है, देवि ? केवल यह तुङ्ग अन्धा हो जायगा जिसके मार्गका प्रकाश ये रही हैं। [**तुङ्गकी आवाज भर्रा जाती है**]

दिद्दा—[**सहसा भारी पलकोंसे झपी आँखें प्रयाससे सविस्तर खोलती हुई—**] तुंग, साहस करो। नारीका साहस तुमने जीवन भर देखा है। अब उसकी मृत्युके समय साहस न खोओ। दिद्दाने यदि कभी घृणा की है तो केवल दुर्बलतासे। कायर उसकी छाया नहीं छू सका है, दर्प उसके तेवरमें सदा अँगड़ाता रहा है। मनमें दुर्बलता न लाओ। कश्मीरका यह मण्डल साम्राज्यकी परिधि तक फैला तुम्हारे लिए तुम्हारे ही खड्ग द्वारा अर्जित कर दिया है, इस पराक्रमसे जीती हुई अनमोल धराको भोगो, केसरको नई फूटती कोपलें तुम्हारे चरणके नखोंको रंग दें!

तुङ्ग—कश्मीर मंडलका वैभव, दरदों और तुखारोंका आत्मसमर्पण, राजपुरी और पुछकी विजय, भोटों और लदाखियेका आज्ञाकरण किस अर्थके, जो उस ऐश्वर्यकी रानी ही न रही? तुंगका वैभव उसकी आकांक्षाके साथ ही, तुम्हारे साथ ही, तिरोहित हो चला। अब जीनेकी साध नहीं, सखि, अब जो मनमें है उसे काश तुम्हारी अनुमतिसे सम्पन्न कर पाता।

दिद्दा—वह नहीं कर पाओगे, तुम। जिओ और साधसे जिओ। और जानो कि सदाचार और व्यसन एक ही पौधकी दो टहनी हैं, मनुष्य ही दोनोंका साधक है, मृत्यु उन दोनोंका विराग है।

तुङ्ग—कुछ कहोगी, रानी?

दिद्दा—कुछ नहीं, राजा, सिवा इसके कि सुखसे मर रही हूँ। दिलका कोई अरमान बाक़ी नहीं, कोई कामना शेष नहीं जो लिये जाती हूँ। जीवनको जीवनकी तरह भोगा है, निडर होकर सुकर्म और कुकर्म दोनों किये हैं, और भयसे विरहित जा भी रही हूँ। और अब तुंग मेरा सिर तनिक उठा कर अपनी उस ऊर्जस्वित छातीपर रख लो जिसके रोम-रोमने मुझे सदा अपनी ओर खींचा है।

[तुङ्ग रानीका मस्तक छातीसे लगा लेता है। उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा निरन्तर बह रही है।]

दिद्दा—तुङ्ग !

तुङ्ग—[भर्रायी आवाज़में] दिद्दा !

[वह आख़िरी आवाज़ है, उसका नाम, जो उसके कानमें पड़ती है, और दिद्दा दम तोड़ देती है।]

●

गोपा

दृश्य १

[रोहिणीका तट। तेज़ीसे आता हुआ सवार घोड़ेकी रास खींच घोड़ा रोकता है। तीन लड़कियाँ देवदहके हरे लहराते धानके खेतोंसे लौट राजमार्गपर जा रही हैं। सहसा घोड़ेके पास आ-जानेसे डरकर आपसमें चिपट जाती हैं।]

सवार—**[घोड़ा रोकता हुआ]** क्षमा, देवियो, क्षमा! उद्धत अश्वको क्षण भरमें सम्हाल लूँगा। आश्वस्त हों। असंयत वेगके लिए लज्जित हूँ। वल्गा टूट गई थी, जिससे इसे सम्हालना कठिन हो गया। आश्वस्त हों!

[तीनों एक-दूसरेसे अलग होती सवारको देखती हैं, बोलतीं नहीं।]

सवार—अश्वके आवेगमें अभिवादन भूल गया, क्षमा करेंगी। अभिवादन! शाक्य सिद्धार्थ गौतम अभिवादन करता है।

[तीनों नाम सुन चकित हो सुन्दर तरुणको देखती रह जाती हैं। परस्पर देखने लगती हैं।]

एक कुमारी—स्वागत, शाक्यकुमार, स्वागत! शाक्य सिद्धार्थ गौतमका देवदहमें स्वागत!

सिद्धार्थ—**[घोड़ेसे उतरता हुआ]** अच्छा, देवदहकी हैं देवियाँ। यशस्वी कोलियोंकी कीर्ति ही इस मात्रामें कांतिमती हो सकती है। किस कुलकी हैं, देवि, भला?

वही—हाँ, हम तीनों देवदहकी ही हैं। यह है महाबलकी कन्या अनुराधा, यह दण्डपाणिकी गोपा, और मैं हूँ धीरोदनकी स्रग्धरा। जाना?

नहीं। मार्ग पहाड़ी निश्चय है, पर जाना हुआ है, मेरे अश्वका परिचित है। चलो, देवियो, अभिवादन ! मातुल दण्डपाणिसे मेरा नमन कहना, कल्याणि गोपे।

[तीनों सिर झुका लेती हैं। घोड़ा एड़ लगाते ही बढ़ता है। रानें पार्श्वपर कस जाती हैं, घोड़ा जैसे हाथ भर धरासे ऊपर उठ जाता है।]

सिद्धार्थ—[**दूरसे**] अलभ्य लाभ हो, देवि ! आकाशके तारे धरापर उतर आयें !

स्रग्धरा—यह तेरे लिए है, गोपे !

गोपा—अरी चल ! मेरे लिए है ! अभी तो सटी जाती थी, और अब 'यह तेरे लिए है !'

अनु०—और नहीं क्या, गोपे ? पिताने क्या कहा था ?—तेजस्वी, करुणाकर, कान्त ! आज जाना, उनका कहना कितना सही था !

स्रग्धरा—कितना सही था उनका कहना, सच !

गोपा—पर यह शाक्य-कोलियोंके प्रतिदिनके विवाद ! जैसे इन्हें कुछ और करना ही न हो। अरे जलकी धारा भी किसीकी होती है, मलयका झोंका भी कहीं बँधकर रहता है ?

स्रग्धरा—नहीं गोपे, न तो जलकी अविरल धारा ही किसीकी होकर रहती है, न मलयका झोंका ही बँधकर रहता है, और न कोलिय बालाका अल्हड़ यौवन ही प्रतिबन्ध मानता है !

गोपा—अच्छा, बस कर सम्हाल अपनी प्रगल्भता।

स्रग्धरा—बिंध गई, रानी !

गोपा—बिंध गई तू, मैं तो जैसी-की-तैसी हूँ।

स्रग्धरा—अरे बिंध तो गई वह जो सहसा चुप हो गई है—अनुराधा !

अनु०—[**चौंककर**] अरे नहीं। जाना, मैं क्या सोच रही थी ?—कि

यही है जिसे माया नहीं व्यापती ? माया न व्यापे उसे जो कुरूप हो, जिसका अन्तर नीरस हो। कुमार तो कितना रम्य, कितना सरस, कितना शिष्ट है ! गोपे, ऐसा तरुण साथ हो तो वरुणकी तुला काँप जाय !

[**प्रस्थान**]

दृश्य—२

[**दण्डपाणि कोलियका प्रासाद। उसकी पत्नी रोहिणी परिचारिकाओंसे घिरी कूटे हुए धानको कूत रही है। गोपा सखियों सहित आती और चली जाती है। रोहिणी धीरे-धीरे प्रासादसे निकल उसकी अमराइयोंमें जाती है जहाँ झूला पड़ा है, खाली, क्योंकि झूलना ख़त्म हो चुका है।**]

रोहिणी—[**ऊँची आवाज़में**] गोपा !

[**कोई उत्तर नहीं मिलता**]

रोहिणी—अरी धरा ! राधा !

[**उत्तर नहीं**]

रोहिणी—कहाँ जा बैठीं तीनों ? अजिरा ! ओ अजिरा !

अजिरा—आई, स्वामिनि ! [**आती है**]

रोहिणी—ये किधर भटक गईं, तीनों ? ज़रा देख तो ?

अजिरा—अभी तो यहीं थीं, इन कदली-बाड़ोंके पीछे। गोपाका प्रसाधन हो रहा था, मैं उधर भटक पड़ी थी। अभी देखती हूँ।

रोहिणी—हाँ, देख तो तनिक गोपाको।

अजिरा—गोपा तो यह रहीं, स्वामिनि।

[गोपा आती है। वासन्ती शृंगार किये। पीछे दोनों सखियाँ हैं।]

गोपा—आ गई, अम्ब, बुलाया मुझे ?

रोहिणी—हाँ, जाते, देख, तनिक इधर आ, पास बैठ जा।

[तीनों बैठ जाती हैं, शाद्वल भूमिपर, कदलियोंकी झुरमुटसे बाहर।]

रोहिणी—गोपा, यह चल नहीं सकता।

गोपा—क्या नहीं चल सकता, अम्ब ?

रोहिणी—यही, सिद्धार्थसे संबन्ध।

स्रग्धरा—क्यों, अम्ब, चल क्यों नहीं सकता ?

अनु०—कुमार गौतम-सा सुयोग्य शाक्योंमें, कोलियोंमें, ऐक्ष्वाकुओंमें दूसरा है कौन, अम्ब, जो नहीं चलेगा ? गोपाका जी न तोड़ें, अम्ब।

रोहिणी—योग्य-अयोग्यकी बात नहीं, राधे। वैसे तो कुमार आकाश-कुसुम है। आभिजात्यमें, शक्तिमें, सौन्दर्यमें, शीलमें अनुपम—मायाका ही तनय है न। जानती नहीं क्या ? देखा नहीं बहुत दिनोंसे, पर सुना तो सब कुछ है। पर—

स्रग्धरा—फिर क्या, अम्ब ?

रोहिणी—देख धरा। सुना है, विरक्त है। कपिलनगरके पूर्वद्वारपर पुष्करिणी है, उसके तीर जामुनका वृक्ष है। बस उसीके नीचे बैठा कुछ गुना करता है। और कालदेवलकी वाणी क्या किसीसे नहीं सुनी ?

अनु०—क्या, अम्ब ?

रोहिणी—कालदेवलने वाणी कही थी—प्रजापतीसे मैंने सुना था, फिर गोपाके पिताने भी कही—यदि संसारमें टिक सका तो चक्रवर्ती, न टिका तो परिव्राजक। कहो, कैसे करूँ ?

स्रग्धरा—पर कुमार तो संसारसे विरक्त नहीं। सुना है, ऋत्वनुकूल

विविध प्रासादोंमें रमण करते हैं, आखेट और धनु-व्यायाम करते हैं। अभी उसी दिन देखा था—विरक्तिका एक लक्षण न था तन-पर, न वाणीमें, न चेष्टामें।

अनु०—और तीनोंको पैने नयनों घायल करते गये।

स्रग्धरा—तुझे ही किया होगा, राधे, घायल, चुप रह।

अनु०—मैं तो कहती हूँ, अम्ब, कुमारको छोड़ दो देवदहमें घड़ी भर, और देवदहके प्रासाद रिक्त न हो जायँ तो कहो। जिधर-जिधर कुमार जायँगे उधर-उधर कोलिय कन्याओंका परिवार चल पड़ेगा।

स्रग्धरा—नहीं, अम्ब, कुमारकी दृष्टि एकाग्र थी, गोपापर लगी। और जो वह दृष्टि एक बार देख लेता, वह ललचाई, सयत पर अनुरक्त, बार-बार लौटती दृष्टि, उसे फिर प्रव्रज्याका भय नहीं रहता।

अनु०—अम्ब, शंका न करो। सौंपो गोपा कुमारको, और मैं कहती हूँ, गोपाके रूप-वैभवसे स्वयं प्रव्रज्याको काठ मार जायगा, कुमार तो प्रासादसे बाहर न निकलेंगे!

रोहिणी—गोपा!

गोपा—अम्ब!

रोहिणी—बोल, कुछ तू भी कह न।

गोपा—क्या बोलूँ, अम्ब, क्या कहूँ?

रोहिणी—तूने भी तो प्रव्रज्याकी बात तातसे सुनी है?

गोपा—प्रव्रज्या क्या जीवनसे परे है, अम्ब? क्या गार्हस्थ्यकी परिणति ही प्रव्रज्या नहीं है? उससे फिर भय क्या?

रोहिणी—भय प्रकृत प्रव्रज्यासे नहीं, जाते, अकाल प्रव्रज्यासे है।

गोपा—फिर, सुनो, माँ, परागका एक कण समूची वनस्थलीको कुसुमभारसे भर देता है, एक साँसमें उनचासों पवनोंका वेग समाया रहता है, संयोगका एक क्षण प्रव्रज्याके कल्पको लाँघ जाता है। मोह प्रबल है, अम्ब, अनुराग फलता है।

रोहिणी—अनुराग फले, गोपा ! तातका संदेह-निवारण करूँगी । तातके भयको जीत सकी तो कपिलवस्तु ब्राह्मण भेजूँगी । मान लेंगे तात, जाते, तुम्हारी कामना । जाओ, निश्चिन्त हो ।

[**तीनों जाती हैं—गोपा शान्त गंभीर क्लान्त, सखियाँ किलकतीं, एक दूसरीसे चिपटती, गोपाको चूमती–भेंटतीं ।**]

रोहिणी [**अकेली, अपने आप**]—फले तुम्हारा मोह, गोपा ! तुम्हारे रूपके संपुट कमलमें कुमारका वैराग्य भ्रमर बनकर मुँद जाय ! और हे कुलदेवता, दिनमणि दिवाकर, गोपाका अनुराग कुमारके रोम-रोम में भिन जाय, पोर-पोरमें पैठे, वाणीमें पल-पल फूटे !

[**जाती है**]

दृश्य ३

[**कपिलवस्तुमें सिद्धार्थका ग्रीष्म प्रासाद । परिणयके पश्चात् । गायन-वादनसे कमरा अभी भी गूँज रहा है यद्यपि स्वर-ताल थम गये हैं । कुमारका संकेत पा गायिकाएँ-नर्तकियाँ उठती हैं और चुप-चाप चली जाती हैं । कमरा सूना हो जाता है, केवल अनुरागभरा । अब वहाँ बस दो हैं—कुमार और गोपा । दोनों बाहर छतपर निकल आते हैं ।**]

सिद्धार्थ—गोपे !

गोपा—रमण !

सिद्धार्थ—कितना स्पृहणीय है शरद् !

गोपा—नितान्त मदिर !

सिद्धार्थ—आकाश कितना निर्मल है, गोपे, कितना निरभ्र, कितना सूना, सार्थक शून्य ।

गोपा—पर सर्वथा सूना भी नहीं, रमण, रजतप्रतानकी भाँति मेघखण्ड जहाँ-तहाँ गतिमान हैं। पवन इन्हें अपने पंखोंपर तौलता बहता जा रहा है। अकेला कोई नहीं रहता, प्राण!

सिद्धार्थ—नहीं, प्रिये, अकेला कोई नहीं रहता—आकाशके साथ धरा है, जैसे पर्वतके साथ जलधारा, जैसे जलधाराके साथ चपल शफरी, हंसमिथुन। हाँ, पर—

गोपा—'पर' क्या, सुमन?

सिद्धार्थ—पर क्या आकाश सूना नहीं है, प्रेयसि, घना सूना?

गोपा—चन्द्र कितना सुदर्शन है, प्रिय, अभिराम वलयसे वेष्टित बिम्ब दिगन्त-व्यापी चन्द्रिकाका आराध्य!

सिद्धार्थ—सही, गोपे, चन्द्र सुदर्शन है, वलयवेष्टित उसका बिम्ब भी अभिराम है, जैसे उसकी चन्द्रिकासे दिगन्त भी आलोकित है, आकर्षक, किन्तु—

गोपा—'किन्तु' क्या, रमण? विकल्प कैसा?

सिद्धार्थ—किन्तु, गोपे, गगन गम्भीर है, अनन्त गहरा, आधारहीन! चन्द्रधर, नक्षत्रधर, पर स्वयं निराधार, गतिहीन, सूना!

गोपा—जिसकी चाँदनी चराचरको परसकर निहाल कर देती है, विमनको स्निग्ध, वह भला सूना कैसे, मनहर?

सिद्धार्थ—देखो, प्रिये, उन नक्षत्रोंको देखो, उन दूर एकान्तमें झिलमिलाते तारोंको, जैसे गगनके सूनेपनसे अवसन्न हो रहे हैं, अवसादसे विकल निरवलम्ब!

गोपा—ज्योतिष्मती रजनीका यह प्रभाव है, वरेण्य, शारदीय विभावरीका। वरना, याद करो, कितने तारे, कितने नक्षत्र इस कौमुदीकी आभाके नीचे गतिमान हैं। सोचो, गगनगंगाकी उन अनन्त नीहारिकायोंको जिनके नीचेसे होकर मन्दाकिनीका धवल मार्ग चला

गया है। आलोडित जीवन जो ज्योतिकी चकाचौंधसे मात्र कुण्ठित हो गया है।

सिद्धार्थ—[**धीरे-धीरे सोचता-सा**] जीवन-ज्योतिकी चकाचौंधसे कुण्ठित। ठीक ही कहा, गोपे, जीवन ऐसा ही है, स्पन्दित, आलोडित, पर प्रकाशसे कुण्ठित, अज्ञानान्धकारसे आवृत, क्षणभंगुर····

गोपा—[**कुछ सस्वर**] जागो, जागो, प्रिय! अचेतनका खूँट न पकड़ो। देखो, इस नाचते निसर्गको, इस रूपमण्डिता धराको, कुसुम-निचयसे लदी वनस्थलीको, चाँदनीसे खिलखिलाती शैलमालाकी हरित श्यामल शाद्वल-मेखलाको देखो—

सिद्धार्थ--[**सकुचाता हुआ**] लज्जित हूँ, गोपे, शरद्का यह वैभव मैंने अपने असमयके प्रलापसे दूषित कर दिया। क्षमा करना, मैं इस वैभवके प्रति विमन नहीं हूँ। और तुम्हारा जीवनके प्रति उल्लास तो मुझे चिरन्तन प्रिय है। बोलो, मानिनि, निसर्गके प्रति, उसके रंजित प्रसारके प्रति मेरा आदर है—

गोपा—[**मुसकराती हुई**] देखो, फिर, मेरे अभिनव सर्वस्व, देखो इस नदिता धराको, काशकुसुमोंसे सजी, पके शालिका पीत परिधान धारे इस शरद्की नववधूको।

सिद्धार्थ—देखता हूँ, प्रिये, अभिनव शृङ्गार किये मुग्धा धरित्रीको—

गोपा--और देखो हंसोंकी पंक्तिसे सनाथ रोहिणीकी रजत धाराको, मरालोंसे कंपित सरके कमलोंको जो अपनी नालोंपर मधुपकी नाईं डोल रहे हैं। कुसुमभारसे झुके सप्तच्छदोंसे श्यामल उन वनांतों-को देखो, नगरके उन उपवनोंको जिन्हें मालतीकी लताओंने अपने उजले फूलोंसे उजागर कर दिया है।

सिद्धार्थ--देखता हूँ, गोपे, मरालगतिका रोहिणीकी रजतधाराको देखता हूँ।

तुम्हारी नासाकी मदिर सुरभिसे जाग्रत अभिनव पद्मोंको देखता हूँ, शरद्की समूची पुष्पराशिको देखता हूँ।

गोपा— बन्धूक और कोविदारको देखो, कुटज और नीपके कुसुमनिचयको, सुरभित शेफालिकाकी अमित राशिको।

सिद्धार्थ—रागारुण निसर्गकी मानस-मराली, रम्य है यह शरद्का उत्कर्ष, रम्य है यह मालतीसनाथ हिमालयका वनप्रान्तर, यह कुसुम-प्रवालोंसे लदी श्यामा लताओंसे ढका शैलभिन्न महाकान्तार।

गोपा—अरे उन काञ्चन कुड्मलोंको देखो, मेरे प्रबुद्ध प्रियतम, उन प्रफुल्ल नीलोत्पलोंको, उन नाचते अरविन्दोंको, उन मरकत मणिकी आभासे अविरल बहती वारिधाराओंको; उस सस्मितवदना चन्द्र-कान्तिको, उस मरीचिमालीकी अविराम बरसती किरणोंको—

सिद्धार्थ—बस, बस, माधुरी, मद गया इस मदिर भाव-संचारसे। शरद्-का वैभव जितना बाहर प्रकट है उससे कहीं प्रचुर तुम्हारे मानसमें निहित है। लक्ष्मी शशाङ्कको छोड़ तुम्हारे मुखाम्बुजमें जा बसी है, हँसोंका कलरव तुम्हारे मणिनूपुरोंमें बज चली है, बन्धूककी अरुण कान्ति तुम्हारे होठोंको लालायित कर रही है। मेरा प्रमदायित मानस विकल हो रहा है, मुग्ध, मोहायित, चलो!

[**गोपाके कन्धेपर अपना हाथ रख देता है**]

गोपा—[**कन्धेपर रखे सिद्धार्थके हाथपर अपना हाथ रखती हँसती हुई**] चलो, मेरे मानसके मधुर मराल! मेरे चिन्तनके नित्य काम्य! साधनाके सिद्धार्थ! चलो! [**दोनों कमरेमें चले जाते हैं।**]

दृश्य ४

[**सिद्धार्थका वसन्त प्रासाद ! प्रासादकी अटारीमें, वातायनके सामने बैठे सिद्धार्थ और गोपा। बाहर देखते हुए वार्तालाप-में रत**]

गोपा—धरापर पराग बरस रहा है, सौम्य, धरित्री अघा रही है, पोर-पोर खोले आनन्दविभोर है !

सिद्धार्थ—सौरभसे वातावरण महमह कर रहा है, प्रिये।

गोपा—आमकी मंजरियाँ अपने कोष खोले सुरभि लुटा रही हैं। गन्धवाही पवन उस गन्धसे पागल डोल रहा है, मञ्जरियोंपर मँडराते मधुकर मधुकरियोंसे अनायास टकरा जाते हैं, बौराये चक्कर काट रहे हैं।

सिद्धार्थ—स्वयं बौरे आमोंने निश्चय चराचरको बौरा दिया है। उन कोयलोंको तो देखो तनिक—

गोपा—[**लजाती हुई, चुपकेसे देखकर**] प्रणयका सम्भार है। संसारसे दोनों जैसे अलग हैं, अकेले।

[**कोयलकी कूक····कू ! कू !**]

सिद्धार्थ—लो, कामने दुन्दुभी बजा दी !

गोपा—कितनी मधुर है कूक !

सिद्धार्थ—टेर रहा है, सङ्गिनीके समीप होते भी।

गोपा—कितना कषाय है कण्ठ उसका !

सिद्धार्थ—प्रायः द्विधाभिन्न। मंजरीका स्वाद कषाय होता है, कषाय-स्वादु। देखो, कोकिलाको कैसे अपनी खाई हुई मंजरीका अंश चुगा रहा है, चोंच-से-चोंच मिली है।

[**गोपा लजा जाती है। सिद्धार्थ उसका झुका हुआ मस्तक**

चिबुक पकड़ कर उठा देता है, गोपा अधखुली आँखों देखती है, कोकिल-कोकिलासे आँखें चुराती हुई।]

सिद्धार्थ—बनस्थलीमें माधव नाच रहा है। जानती हो प्रिये, वसन्त कामका सेनानी है ?

गोपा—जानती हूँ, नाथ, मधुनायकके दिये उपकरणोंसे ही तो पुष्पधन्वाके परिच्छेद बनते हैं—

सिद्धार्थ—हाँ, ईखसे धनुषका दण्ड, भौंरोंसे उसकी डोरी, पंच पुष्पोंसे पंचवाण।

गोपा—[**धीरेसे**] वसन्त उसका सेनानी, कोकिल उसके वैतालिक, चारण!

सिद्धार्थ—मारकन्याएँ उसके प्रहारके अस्त्र!

गोपा—कितनी अभिराम भावुकता है, कितनी अभिमत कवि-कल्पना!

सिद्धार्थ—पर क्या यह मात्र कविकल्पना है ? जीवनका पर्याय नहीं ? उसका एकान्तिक सत्य नहीं ?

गोपा—एकान्तिक सत्य तो तुम जानो, मेरी उन्मद भावनाके एकान्तिक सर्वस्व। मैं तो मात्र तुम्हें जानती हूँ। तुम्हारे उस रसाकुल पिण्डको, रसराजके स्पर्शसे स्निग्ध, परागसे अभिषिक्त तुम्हें।

[सिद्धार्थ कुछ शिथिल हो जाता है।]

गोपा—क्यों, विमन कैसे हो चले, मधुमानस ?

सिद्धार्थ—नहीं, विमन कहाँ, गोपे ?

गोपा—क्यों नहीं, कान्ति जैसे सहसा मलिन पड़ गई है, चन्द्रबिम्बके सामनेसे जैसे मेघखण्ड निकल गया है। बात क्या है, स्वामिन् ?

सिद्धार्थ—बात कुछ नहीं, रानी। बस तनिक असावधान हो गया था। क्षमा करना, अब पूर्ववत् उत्सुक हूँ, तुम्हारी व्यंजनाके प्रति उन्मुख।

गोपा—नहीं, वाणी चिन्ताकुल है। प्रयत्न करके भी बदनको प्रकृत नहीं

बना पाते, चेष्टाएँ विकृत हैं । बोलो, प्रिय, बात क्या है ? मधुके झरते मकरन्दके बीच, बरसते अनुरागके बीच यह विराग कैसा ?

सिद्धार्थ—सही है, गोपे, क्षमा करना । निःसन्देह अन्तर्मुख हो चला हूँ । मानस सहसा उद्विग्न हो उठा है । यह वनस्थलीमें नाचता माधव, यह निसर्ग वैभव, यह इन सबसे मूल्यवान, सबसे अभिराम, सबसे कमनीय तुम्हारी देवदुर्लभ काया, सब सहसा नेत्रोंसे परे हो गये । बिसरे निदानकी सहसा याद आ गई । लगा,

[**गोपाके आँसू बहते जा रहे हैं**]

यह मधु भी रित जायगा, जीवन मुरझा चलेगा, और साथ ही तुम्हारी यह अनुपम काया भी धीरे-धीरे पीली पड़ जायगी, इसका अभिनव वसन्त एक दिन····

गोपा—[**सिसकती हुई**] क्या हुआ, प्राणेश्वर, यदि ऐसा हुआ तो ? यह तो प्राणीका धर्म ही है, प्रकृतिका ही धर्म है, इससे रक्षा कहाँ ? इससे क्षोभ क्यों ?

सिद्धार्थ—और तब एक दिन हमारा वह अनुपम नवजात, हमारी एकान्त ममताकी डोर राहुलपर भी कालका वही कुठाराघात होगा, इस क्षण भी होता जा रहा है । शिशुसे वह बाल होगा, बालसे किशोर, किशोरसे युवा, फिर प्रौढ़, वृद्ध और····

गोपा—[**सिसकती हुई**] हाय ! हाय !

सिद्धार्थ—हाय, आगे सोच नहीं पा रहा हूँ । पर क्या इस जीव धर्मसे छुटकारा नहीं है ? इतना प्राणवान् गतिमान मानव क्या मात्र मिट्टी होकर रहेगा, जड़ धूल ?

गोपा—मत, मत सोचो इस प्रकार, मेरी साधोंके राजा । जीवनको सोचो, मृत्युको भूल जाओ, भुला दो ।

[**नेपथ्यमें—शिशुकी आवाज—ओ ! ओ ! उदर, अम्म ।**]

सुन लो उस छौनेकी आवाज़। जीवन कितना जीव्य है, मेरे प्राण ! फिर अभिमत जीवन, जैसा हमारा है।

[**दासी प्रायः साल भरके शिशुका हाथ पकड़े कक्षमें प्रवेश करती है, स्वामी-स्वामिनीकी गंभीर मुद्रा देख ठिठक जाती है। शिशु माँकी ओर उँगली उठाता उसे खींचता है।**]

शिशु—वो-वो—अम्म-तात ! वो-वो !

गोपा—आने दो, शिशुको आने दो, दासी। लाओ उसे !

[**सिद्धार्थ धीरे-धीरे सिर उठाता आते शिशुकी ओर देखता है**]

गोपा—[**गोदमें शिशुको लेती, छातीसे चिपटाती हुई**] मेरे लाल ! [**दासी चली जाती है**] मेरे प्राणोंके प्राण ! मेरे छौने ! बच्चे ! [**सिद्धार्थका चेहरा फिर मलिन हो उठता है, प्रसन्न मुद्रा बनाये रखनेके बावजूद**]

गोपा—देखो, मेरे नाथ ! मेरे आराध्य, देखो इस अनुपम अजेय शिशुको, शचीके इस जयन्तको, मेरे प्राणोंके इस मर्मको !

[**शिशु रह-रहकर अम्म ! तात ! कहता और माँकी जाँघपर हिलता जाता है। फिर माँ और पिताकी चेष्टाएँ देख विमन कुछ चुप-सा हो जाता है। सिद्धार्थ राहुलको निहारता है, फिर धीरे-धीरे माँसे चिपटते शिशुको अपनी गोदमें खींच लेता है।**]

सिद्धार्थ—[**भरी गीली आँखोंको पोंछता**] देखता हूँ इसे, मेरी प्राण। देखता हूँ, इस एकान्त तनयको। और काँप जाता हूँ। क्या यह क्षणभंगुर जीवन चिरजीवन नहीं हो सकता ? क्या रूप-यौवन, स्वास्थ्य स्थायी नहीं हो सकते ? जीवन क्या मृत्युका ही होकर रहेगा ? पल-पल मिटता हुआ जीवन क्या अजर-अमर नहीं हो

सकता ? क्या उसका निदान कहीं नहीं ? क्या कहीं मृत्यु और दुःखका निरोध नहीं ढूँढ़ पाऊँगा ?

[गोपा निरन्तर रोती जा रही है। राहुल विस्मित है। कभी माँको देखता है, कभी पिताको। फिर अम्म ! अम्म ! करता बरबस माँकी गोदमें चला जाता है।]

सिद्धार्थ— चिन्तित मैं इसलिए हूँ, गोपे, आकुल इसी कारण हूँ कि किसी प्रकार जीवन-मरणका वह भेद पा लूँ, कि तुम्हारी इस अभिराम कायाको मिटने न दूँ, इसे जीर्ण न होने दूँ, तुम्हारे इस अप्सरा-दुर्लभ आननपर एक भी चिन्ताकी रेखा, एक भी झुरी न आने दूँ। कि इस शिशुका यह शैशव, इसका अनागत यौवन दुःखसे, व्यथासे विकृत न हो उठे। और इसीलिए, गोपे, मुझे जाना होगा। इसी लिए कि तुम्हें सदा देख सकूँ, सदा पा सकूँ, कि राहुलको अमृतत्व ला सकूँ।

गोपा—**[रोती हुई]** नहीं, मेरे स्वामी, नहीं। नहीं चाहिए मुझे अजर-अमर जीवन, नहीं चाहिए मुझे शाश्वत यौवन, और न मेरे नयनके इस तारेको...

[टूटकर रो पड़ती है। शिशु भी सहसा रो पड़ता है। परदा गिरता है।]

दृश्य ५

[सिद्धार्थ सम्यक् सम्बोधिकी खोजमें कपिलवस्तु छोड़ एक रात चले गये। कपिलवस्तुका राजपरिवार, शाक्य-समाज अवसादके वशीभूत हुआ। उसके कुछ महीनों बाद अपने शीतप्रासादमें अनुराधासे वार्तालाप करती गोपा। कक्ष सूना है, विलासके सारे पदार्थ वहाँसे हटा दिये गये हैं। केवल एक ओर बच्चेके खिलौने गजदन्तके आधारपर रखे हैं। बच्चा सो रहा है। गोपा पर्यंकपर

अधलेटी है, उसका वक्ष आभाहीन है, मुखकी कान्ति मलिन हो गई है, सूखी लटें एक ही वेणीमें गूंथी जाकर भी निकल कर इधर-उधर भटक पड़ी हैं। अनुराधा पर्यंकके पास ही भद्रपीठ-पर बैठी है।]

गोपा—न जाने कहाँ गये नाथ, राधे, किधर गये।

अनु०—रोहिणी पार, सावत्थीकी ओर, मल्लोंकी ओर।

गोपा—पैदल! नंगे पाँव! उनके वे कोमल चरण!

अनु०—धीर धरो, गोपे, आयेंगे सिद्धार्थ। स्वामी लौटेंगे।

गोपा—अब क्या लौटेंगे स्वामी, राधे! गया कभी लौटा है? क्या कहा छंदाने?

अनु०—हाँ, कहा उसने कि स्वामीने अपने भ्रमर श्याम कुञ्चित कुन्तल खड्गसे काट डाले, मूल्यवान उष्णीष और दुकूल उतार दिये, यतीके चीवर माँग पहन लिये और अश्व कंथकको और उसे अनुग्रहसे देखते चले गये।

गोपा—नंगे पाँव! जलती धरती, कोमल चरण! हाय स्वामी!

अनु०—जिसने जीवनको प्राणियोंके हितचिन्तनमें स्वाहा कर दिया उसके नगे पाँव और कोमल चरणका क्या रोना सखि? फिर यदि उनकी बात करती ही हो तो यह न भूलो कि उनके कोमल गातकी कठो-रता भी कुछ कम नहीं। शाक्यों-कोलियोंमें कौन था जो उनके अंगोंकी कठोरताका साक्षी नहीं, जो उनसे लोहा ले सकता रहा हो?

गोपा—सही, राधे, गात कठोर था उनका, इसे शाक्यों-कोलियोंने देखा, हिया उनका उस गातसे भी कठोर था, यह मैंने देखा, दुधमुँहें राहुलने देखा।

अनु०—नहीं, सखि ऐसा न कहो। उपालम्भ न दो।

गोपा—[**उलाहनेके स्वरमें आँसू भरकर भारी स्वरमें**] उपालम्भ न दूं, राधे? देखती हो उस अंकुरको, जिसे तातके प्यारकी आवश्यकता

थी, पिताकी निजताकी। उसे उन्होंने क्या कहा? राहुल! विघ्न! काँटा!

अनु०—गोपे!

गोपा—काँटा था वह नवजात उनके लिए! उनकी राहका काँटा! कभी किसी पिताने अपने सद्योजातको इस प्रकार नहीं पुकारा। मेरे नवजातका यह स्वागत! [**बच्चेके पालनेकी ओर दौड़ उसे चिमटा लेती है**] मेरे अभागे राहुल! मेरे अकिञ्चन लाल! [**बच्चेको छोड़ देती है, बच्चा आँयँ! आँयँ। करके करवट बदल सो जाता है। अनुराधा गोपाको सहारा देती लाकर फिर पूर्ववत् पलंगपर बैठा देती है।**]

अनु०—नहीं, सखि, स्वामीका निरादर न करो। ग्लानि बड़ी है, जानती, हूँ, पर उनकी प्रतिज्ञाकी परिधि उससे भी बड़ी है, उद्देश्यका आयाम कहीं बड़ा है उससे, यह न भूलो।

[**गोपा चुपचाप रोती है**]

फिर एक बात और है, गोपे?

[**गोपा उत्सुक हो आँखें उठा सखीकी ओर देखती है।**]

अनु०—स्वामी क्यों गये, तुमने स्वयं एक दिन अनायास कह दिया था।

गोपा—क्यों गये, राधे? क्या कह दिया था मैंने?

अनु०—गये कि उस भेदको जान लें, उस उपायको खोज लें जिससे तुम्हारा यौवन अजर हो जाय, जिससे राहुलका बढ़ता गात कभी छीजे नहीं, कभी व्याधियोंका पंजर न बने!

गोपा—आग लगे इस यौवनको, राधे, यमका पास इस तनको बाँध ले।

अनु०—पर बात तो यही थी, गोपे।

गोपा—[**तनिक रुककर चिन्ताकी मुद्रामें**] बात यह नहीं थी, सखि। बात वह बिचारी है मैंने, दिन-दिन, रात-रात गुना है उसे।

हियाको सेंकनेवाली बात होती वह, पर वही उस महान् अभि यानकी पराजय भी होती । पर बात वह नहीं है, राधे ।

अनु०—समझी नहीं, सखि ।

गोपा—वही तुम्हारी ही बात, उनकी प्रतिज्ञाकी परिधि बड़ी है, उनवे उद्देश्यका आयाम बड़ा है ।

अनु०—फिर ?

गोपा—वह मेरी बात नहीं, सखि । होनी भी नहीं चाहिए वह मेरी बात वह तो जन-जनकी बात है । उनके हियेमें जो दीप बलता थ उसकी लौ तो सबका अन्तर सेंकनेके लिए थी, कुछ मेरे ही लिए नहीं । कातरनयना मृगीपर संधाने बाणका उतर जाना, बाण विद्ध क्रौंचके जीवनके लिए इतना आग्रह, श्वपच-चाण्डालवे लिए इतनी ममता, क्या सब मेरे ही लिए ? ना, स्वामीकी दृि लोकदृष्टि थी, पारिवारिक दृष्टि थी ही नहीं, परिवारमें जन्मे हं नहीं थे, गार्हस्थ्यकी परिधिमें कभी वे बँधे ही नहीं, गृहस्थ होकर भी ।

अनु०—और इतनी ममता जो तुम्हारे पर थी, वह ?

गोपा—वह माया थी, सखि, मात्र छलना । सदासे उनका यही प्रयत्न था कि मेरे तारुण्यकी अवहेलना न हो, उसका सुख मुझे मिल जाय । और यह सब केवल मुझे इसी दिनके लिए तैयार करनेवे प्रयत्नमें था । वे मेरे तारुण्यके आकर्षणसे कभी नहीं खिंचे ।

अनु०—फिर भी, क्या तुम्हें उनका आत्मनिग्रह स्वीकार नहीं है ?

गोपा—है, सखि । स्वीकार है मुझे उनका आत्मनिग्रह । उनकी प्राणियोंपर अनुकम्पा, चराचरपर अनुग्रह, दुखियोंके आर्तिनाशके उपायक चिन्तन मुझे सर्वथा स्वीकार है, केवल मैं उसके लिए तैयार न थी

अनु०—तैयार होतीं कैसे ? उनके कह देने मात्रसे तो नहीं । वैसे उन्होंने संकेत द्वारा कह देनेमें भी संकोच न किया । जानो, सखि, इस

प्रकारका दु:ख, ऐसा वियोग-विरह झेल कर ही जाने तो साध्य हो वरना उसकी प्रतीक्षा तो असह्य हो उठे। आदमी चुक जाय पर प्रतीक्षाका संताप न चुके।

गोपा—मानती हूँ, राधे, स्वामीका अभियान इसी मात्र आचरणसे सम्पन्न हो सकता था। पर मोह, यह सर्वसोखी मोह! लगता है, जैसे हिया फट जायगा। लगता है, जैसे स्वामी आयेंगे।

अनु०—आयेंगे स्वामी, गोपे, निश्चय आयेंगे, निःसन्देह। धीर धरो। महापुरुषकी अनुवर्तिनी हो, तुम्हारा चरित भी तदनुकूल ही होना चाहिए—महान्।

गोपा—धरूँगी धीर, राधे। अपने लिए, इस पुत्रक राहुलके लिए, असंख्य जनवृन्दके लिए, जिससे हम सबका कल्याण हो। जगत्का पहले, हमारा पीछे, जिसके लिए उन्होंने अभियान किया है।

अनु०—साहस, बहिन, साहस।

गोपा—साहस करूँगी, सखि, कि स्वामीका प्रयत्न फले!

अनु०—कि दण्डपाणि और शुद्धोदनका पौरुष सफल हो, कि कोलियों और शाक्योंके इतिहास स्वर्णाक्षरोंमें लिखे जायँ, कि सतीका यश पतिके दिगंतवेधी यशकी छायामें आकाशमें व्याप्त हो जाय!

[**बच्चा पालनेमें उठकर बैठ जाता है, बोलता है, 'अम्म !' दोनों उधर दौड़ पड़ती हैं। परदा गिरता है**]

दृश्य ६

[**कई वर्ष बाद सिद्धार्थ सम्यक् संबोधि प्राप्त कर बुद्ध हुए, तथागत। तथागत कपिलवस्तु पधारे, समूचे संघके साथ। गोपा प्रासादके अपने कमरेमें चुपचाप कुछ गुन रही है। राहुल बाहर दासीके साथ पट्टिकापर लिख रहा है।**]

गोपा—[**स्वगत**] धीरे-धीरे हृदय ! साहस ! स्वामी नगरमें पधारे हैं। आज तुम्हारी परीक्षा है। साहस !

[**दासीका प्रवेश**]

दासी—देवि, राजा पधार रहे हैं। देवीका प्रसाद चाहते हैं।

गोपा—[**तेज़ीसे उठती हुई**] अभिवादन कह, गुणिके, आर्यकी सेवाके लिए उत्सुक हूँ।

[**राजा शुद्धोदनका सावेग प्रवेश**]

गोपा—अभिवादन, आर्य, गोपाका अभिवादन ! [**मस्तक झुकाती है**]

शु०—स्वस्ति बेटी, मनोरथ फले ! सुना तुमने ?

गोपा—सुना, आर्य ! सुना कि आर्यपुत्र नगरमें पधारे हैं। सुना कि पिताके नगरमें भिक्षाटन कर रहे हैं।

शु०—सही, कन्ये। पर मनमें ग्लानि न लाओ। अमनुजकर्मा महापुरुषोंके आचरण मनुजोंके आलोच्य नहीं। मैं सिद्धार्थका पिता था पर तथागत आज जगत्के पिता हैं।

[**गोपा आश्चर्यकी चेष्टा करती है। विस्मयसे उसके नेत्र फैल जाते हैं।**]

शु०—बेटी, जब सुना कि सुगत कपिलवस्तुके राजमार्गपर भिक्षा-पात्र लेकर निकल पड़े हैं तब विकल हो दौड़ा। सामने जाकर पूछा, यह क्या करते हो ? अपने ही पिताके राजमें, राजाके नगरमें भिक्षाटन ? जानती हो क्या उत्तर दिया ? सुगतका शान्त देवदुर्लभ मस्तक उठा, दयार्द्र नेत्रोंसे देखते हुए वे बोले—'राजन्, तुम राजाओंकी शृंखलामें जन्मे हो, राजा हो, मैं भिक्षुओंकी परम्परामें जन्मा हूँ, भिक्षु हूँ। मेरे भिक्षाटनसे राजाकी अवमानना कैसी ?' और बेटी, मेरा मस्तक सुगतके अभिवादनमें झुक गया !

गोपा—[**पुलकित आँसू भरे नेत्रोंसे देखती है**] धन्य ! धन्य जनक ! धन्य जात !

शु०—धन्य भार्या !

गोपा—नहीं, आर्य, भार्या कहाँ ?

[**आँखोंसे आँसू चू पड़ते हैं**]

शु०—क्षमा करना, देबि ! आकस्मिक मोहने असावधान कर दिया था। पर क्या सुगतको देखने न जाओगी ? देख ले, बेटी, सारा नगर राजमार्गपर उतर पड़ा है, अन्तर तृप्त हो जायगा।

गोपा—[**शान्त गम्भीर संतप्त वाणीमें**] आर्य, मैं क्या जानूँ सुगत, क्या जानूँ तथागत ? मेरे तो बस आर्यपुत्र ! और आर्यपुत्र नहीं तो मेरा कौन ?

[**गोपाके मस्तकपर हाथ रखते आँखोंमें आँसू भरे शुद्धोदनका प्रस्थान**]

गोपा—साहस ! साहस, हृदय ! दिन-दिन गिनते मास बीते हैं, मास गिनते वर्ष। और आज यह दिन आया है जब आर्यपुत्र इधर पधार रहे हैं। पर मैं भला कौन हूँ उनकी ?

[**दासीका वेगसे प्रवेश। पीछे-पीछे राहुल**]

दासी—देवि, तथागत इधर ही आ रहे हैं। संथागारका गजस्तंभ पार कर चुके हैं। निःसन्देह इधरसे ही होकर निकलेंगे। द्वारपर चलें, दर्शन करें।

राहुल—अम्ब, कौन आ रहा है, कौन ?

गोपा—[**बैठे जाते हृदयका आवेग रोकते हुए द्वारकी ओर बढ़ती है। राहुल उसके घाँघरेको पकड़ता साथ-साथ सरक चलता है**]

कौन आ रहा है, पुत्रक ? क्या बताऊँ, कौन ? चल देखले उसे जो आ रहा है। [**फिर स्वगत**] सावधान हृदय, दुर्बलता लक्षित

न होने देना ! उनके मार्गमें बाधा न डालना । एक आँसू न गिरे, वाणी संयत रहे ।

[नेपथ्यमें तथागतकी जय ! सुगतकी जय ! सम्यक् संबुद्धकी जय ! आगे आगे त्रिचीवर पहने बुद्धका आगमन, पीछे मोग्गलान और पीछे कुछ दूरपर जनता । गोपा चुपचाप द्वारपर खड़ी है, राहुल माँ का अधोवस्त्र पकड़े है । पीछे दास-दासियाँ खड़ी हैं ।]

गोपा—[**धड़कते हृदयसे स्वगत**] क्या करूँ ? किस प्रकार अपनेको सम्हालूं ? कहीं उन्हें छू न दूँ ! कहीं धीरज छूट न जाय, ढाढस टूट न जाय ! हाय क्या कहूँ ? क्या बोलूं ? मुझसे क्या वे बोलेंगे ? हे मेरे पितृ और श्वसुर कुलके समग्र देवता, इस अबलाको बल दो, साहस दो, तुम्हीं उसकी रक्षा करना, तुम्हीं उसके एकमात्र साहाय्य हो ! [**सम्हलकर खड़ी हो जाती है । बुद्ध और मोग्गलान राजमार्ग पारकर द्वारपर शान्त आ खड़े होते हैं । जनता सड़क पार ही खड़ी रहती है । गोपा हाथ जोड़ नतमस्तक होती है, राहुल भी माँको हाथ जोड़ता देख तथागतके हाथ जोड़ता है, माथा झुका देता है ।**]

राहुल—अम्ब, यह कौन है ?

गोपा—[**अपलक बुद्धको निहारती**] एँ !

राहुल—कौन है, अम्ब यह ?

[गोपाका अन्तर बालकके प्रश्नसे ग्लानिसे भर जाता है । ग्लानिसे शक्ति आती है, उत्तर देती है–]

गोपा—भाग्यसे पूछ, जात, अपने भाग्यसे पूछ !

[बुद्ध नेत्र नीचे किये सुनते हैं और चुपचाप भिक्षापात्र देहलीमें गोपाके सामने बढ़ा देते हैं ।]

राहुल—तू चिढ़ गई, अम्ब ? कहती थी न, तात आयेंगे। राजा-दादा कहते थे, तात आयेंगे, ऐसे ही कपड़े पहने !

गोपा—आर्य !····भगवन् ! कैसे पुकारूँ, नाथ ?

मोग्गलान—भिक्षा, भद्रे, भिक्षा ! तथागत गृहस्थ नहीं, भद्रे !

गोपा—[**घबड़ाई हुई भी**] भिक्षा, भन्ते ? अपने ही घर भिक्षा ?

मोग्गलान—तथागतका अपना कोई घर नहीं, गेहिनि, सुगत अनागारिक हैं।

[**बुद्धका हाथ भिक्षापात्रपर दृढ़तर हो जाता है, स्थिर**]

गोपा—[**सहसा साहस बटोरकर**] सुगत अनागारिक हैं, भन्ते ? हाँ, सुगत अनागारिक हैं। [**ग्लानि और क्षोभभरी वाणीमें**] गेहिनी तो बस मैं ही हूँ ! जीवन मात्र मेरा अमर है, गृहपति विरहित इस गृहिणीका, निश्चय !

मोग्ग०—शीघ्र, गेहिनी, शीघ्र ! यदि तथागत लौटे तो अनाहार रह जायँगे !

गोपा—[**घबड़ाकर**] नहीं, भन्ते, तथागतको लौटना न होगा। [**फिर बुद्धकी ओर झुककर**] भगवन्, बड़ी उत्कण्ठासे प्रतीक्षा कर रही थी। आज आये। और जो आये तो इस वेशमें, त्रिचीवर पहने, भीख माँगने। भगवान्को भीख देनेका मुझमे सामर्थ्य कहाँ ? पर दूँगी भीख। और दूँगी अपना वह सर्वस्व जिसका मोल धरापर नहीं। [**राहुलको बगलसे खींच दोनों हाथोंमें उठाती हुई**] यह है भिक्षा, भगवन् ! लो इसे ? मेरे इस अवशिष्ट सर्वस्वको। जन्मके इस राहुलको !

[**बुद्ध भिक्षापात्र मोग्गलानको थमा अपने दोनों हाथ बढ़ा चुपचाप राहुलको गोपाके हाथोंसे ले लेते हैं। गोपाका संचित साहस टूट जाता है। ग्लानि व्यंग्यमें बदल जाती है। उसके मुँहकी मुद्रा बिगड़ जाती है। राहुलकी ओर देखती कहती है**]

गोपा—[**तीव्र स्वरसे**] राहुल, पितासे अपनी दाय माँग, अपना पितृत्व !

बुद्ध—मोग्गलान, राहुलको प्रव्रज्या दो !

मोग्गलान—[**मस्तक झुकाता हुआ**] धन्य तथागत ! अनागारिक भिक्षुके पास सिवा प्रव्रज्याके दूसरी दाय कैसी ?

जनता—जय ! तथागतकी जय ! राहुल माताकी जय ।

[**तथागत और मोग्गलानके साथ राहुलका धीरे-धीरे प्रस्थान । नागरिकोंकी जय-जयकार ।**]

गोपा—[**अधरमें देखती हुई**] हाय ! यह क्या कर बैठी ? अपना अन्तिम अवलम्ब भी दे बैठी ? अभागे हृदय !

[**दास-दासियोंका बिलखना । गोपाको सहारा देकर भीतर ले चलना । शुद्धोदनका सहसा प्रवेश ।**]

शु०—यह क्या, बेटी ? यह क्या सुनता हूँ ? क्या राहुलको संघको दे डाला ?

गोपा—देव ! पिता ! देव !

शु०—सिद्धार्थको खो चुका था, नन्द भी हाथसे निकल गया था । अब बुढ़ापेकी लकड़ी यही राहुल बचा था, सो उसे भी नियतिने हर लिया !

गोपा—सब घट गये, आर्यपुत्र घट गये, पुत्र घट गया, शेष बच रही अकेली मैं ! प्रारब्ध ! दैव !

[**बेहोश हो गिरने लगती है । सब दौड़ते हैं । शुद्धोदन सहारा देते हैं । परदा गिरता है ।**]